उपन्यासकार अश्क

प्रस्तुतकर्ता

डा० इन्द्रनाथ मदान

नीलाभ प्रकाशन

इलाहाबाद–१

उपन्यासकार अश्क

उपन्यासकार अश्क—में हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डा० इन्द्रनाथ मदान (हिन्दी विभाग पंजाब विश्वविद्यालय) ने अश्क जी के उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया तथा विचारधारा पर अपनी विशिष्ट दृष्टि से प्रकाश डाला है, जो अन्य आलोचकों से सर्वथा भिन्न है। उस दृष्टि को पाठक हृदयंगम कर सकें, इसलिए अश्क जी के उपन्यासों के पक्ष-विपक्ष में कुछ महत्वपूर्ण लेखों तथा टिप्पणियों का भी संकलन उन्होंने इस पुस्तक में कर दिया है, जिससे प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी के आलोचना-साहित्य में महत्वपूर्ण एवं संग्रहणीय हो गया है।

उपन्यासकार अश्क

[एक परिसम्वाद]

प्रस्तुतकर्त्ता

डा० इन्द्रनाथ मदान

एम० ए० पी-एच० डी०

नीलाभ प्रकाशन

इलाहाबाद–१

● प्रथम संस्करण : १९६०

● प्रकाशक : नीलाभ प्रकाशन

प्रधान कार्यालय—५, खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद

बिक्री कार्यालय—१५-ए कैनिंग रोड, इलाहाबाद

● मुद्रक : पियरलेस प्रिंटर्स, बैरहना, इलाहाबाद

● मूल्य : ५)

आभार

प्रस्तुत ग्रन्थ में संकलित सामग्री को एकत्र करने में मेरे जिन छात्रों, सहयोगियों और स्नेहियों ने सहायता की है, उनका मैं अतिशय आभारी हूँ।

आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित सामग्री का इस परि-सम्वाद में उपयोग किया गया है, जिसके लिए मैं उक्त संस्था के जालन्धर, दिल्ली, लखनऊ, इलाहाबाद तथा पटना केन्द्रों के प्रति कृतज्ञ हूँ।

अश्क जी ने अपनी व्यस्तता के बावजूद, मेरे विशेष अनुरोध पर, इस पुस्तक के लिए अपने उपन्यासों पर स्वयं दृष्टि डालते हुए एक लम्बा लेख भेजा, जिससे पुस्तक का महत्व निश्चय ही बढ़ गया है। मैं उनका भी विशेष रूप से आभारी हूँ।

५२६ माडल टाऊन
जालन्धर

इन्द्रनाथ मदान

अनुक्रम

● ●

विशिष्ट लेख

सितारों के खेल

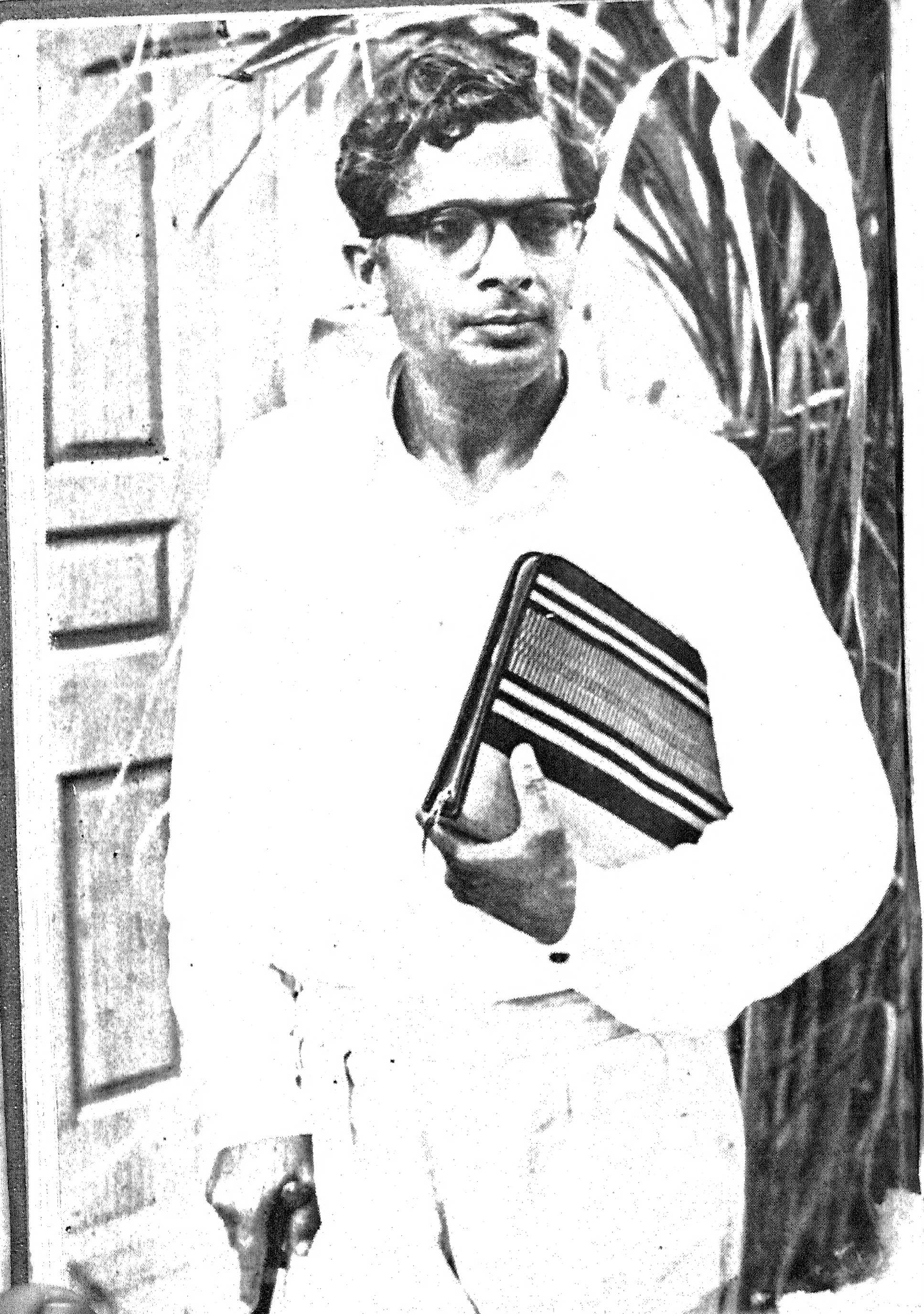
गिरती दीवारें

गर्म राख

बड़ी-बड़ी आँखें

पत्थर-अलपत्थर

टिप्पणियाँ



उपन्यासकार अश्क

उपन्यासकार अश्क

डा० इन्द्रनाथ मदान

उपन्यासकार अश्क : एक मूल्यांकन



श्री उपेन्द्रनाथ अश्क

मेरे उपन्यास : मेरी दृष्टि में



श्री शिवनारायण श्रीवास्तव

अश्क के उपन्यास : एक विवेचन

उपन्यासकार अश्क : एक मूल्यांकन

●

डा० इन्द्रनाथ मदान

उपेन्द्रनाथ अश्क की उपन्यास-कला का विश्लेषण और मूल्यांकन करने के लिए उपन्यास के उद्देश्य तथा हिन्दी उपन्यास के उदय तथा विकास से अवगत होना अपेक्षित है। इस अभिनव साहित्यिक विधा का जन्म तथा विकास मार्क्सवादी दृष्टि से मध्यवर्ग के उदय तथा विकास से सम्बद्ध माना जाता है। इसलिए मार्क्सवादी आलोचकों ने महाकाव्य तथा उपन्यास की तुलना करते हुए उपन्यास को पूँजीवादी समाज के महाकाव्य की संज्ञा दी है। रैल्फ़ फ़ॉक्स ने तो यहाँ तक कह दिया है कि उपन्यास पूँजीवादी साहित्य की न केवल सब से प्रतिनिधि उपज है, बल्कि इसकी श्रेष्ठतम रचना है। आधुनिक सभ्यता से पहले इसका अस्तित्व नहीं था, यदि था तो अत्यन्त प्राथमिक रूप में! इस विवेचन से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि मध्यवर्गीय जीवन के चित्रण तथा उसकी समस्याओं के उद्घाटन एवं समाधान के लिए

उपन्यास को उपयुक्त माध्यम बनाया गया है। इसके द्वारा इस समाज की चेतना को विस्तार देने तथा गहन बनाने का काम लिया गया है। महाकाव्य में प्रधानतः सम्पूर्ण समाज की अभिव्यक्ति की जाती है और उपन्यास में प्रमुखतः व्यक्ति के जीवन का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। पूँजीवादी संस्कृति की देन व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि है। इस समाज में व्यक्ति और समाज के बीच वह संतुलन नष्ट हो चुका है, जिसकी अभिव्यक्ति महाकाव्य की संस्कृति में उपलब्ध होती है। उपन्यास को इस प्रकार पूँजीवादी संस्कृति तथा मध्यवर्गीय जीवन की अभिव्यक्ति से सम्बद्ध किया जाता है। इस मान्यता में आंशिक सत्य की ही उपलब्धि होती है। उपन्यास आज समाजवादी संस्कृति तथा जीवन की अभि-व्यक्ति का भी माध्यम बना हुआ है। इसमें संदेह की सम्भावना नहीं है कि इसका सूत्रपात तथा विकास पूँजीवादी संस्कृति के उदय तथा विकास से सम्बद्ध रहा है। परन्तु इसके उद्देश्य को इस प्रकार सीमित करना संगत नहीं जान पड़ता। इसका जन्म नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था, इसकी जड़ें अतीत में मिलती हैं, परन्तु अपने वर्तमान रूप में उपन्यास मानव के जीवन का गद्य बन गया है। इसमें मानव-चेतना के विविध स्तरों की तथा मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। उपन्यास को अन्य साहित्यिक विधाओं से अलगाने वाली विशेषता यह है कि इसमें जीवन के रहस्य को उद्घाटित करने की क्षमता अधिक होती है, व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्ध को चित्रित करने की शक्ति अधिक रहती है।

हिन्दी उपन्यास : विविध प्रवृत्तियाँ

हिन्दी उपन्यास की गतिविधि का विवेचन उन विचारधाराओं तथा शक्तियों के आधार पर करना अपेक्षित है, जो व्यक्ति एवं समाज के जीवन को परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप में संचालित करती हैं। इसके

लिए उन परम्पराओं तथा रूढ़ियों का ज्ञान भी उपादेय है जो व्यक्ति एवं समाज के जीवन को अवरुद्ध करती हैं। आधुनिक भारतीय परिवेश के प्रति हिन्दी के उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में चार विभिन्न प्रतिक्रियाओं अथवा जीवन-दृष्टियों का परिचय दिया है। इनके आधार पर हिन्दी उपन्यास की चार विभिन्न प्रवृत्तियों का विश्लेषण डॉ॰ सुषमा धवन ने अपने शोध-प्रबन्ध में किया है, जो मुझे अधिक संगत जान पड़ता है। अश्क की उपन्यास-कला का मूल्यांकन भी इन चार प्रवृत्तियों के संदर्भ में करना समीचीन होगा। हिन्दी उपन्यास के साहित्यिक रूप का सूत्रपात सुविधा की दृष्टि से प्रेमचन्द की कृतियों से स्वीकार किया जाता है। उपन्यास की चार प्रवृत्तियों में प्रेमचन्द-परम्परा की 'सामाजिक' प्रवृत्ति का मूल उद्देश्य समाज-मंगल अथवा समाज-कल्याण की भावना से प्रभावित है। यह सामाजिक उद्देश्य इस परम्परा के उपन्यासों के वस्तु-पक्ष एवं शिल्प-पक्ष को रूपायित करता है। इसकी अभिव्यक्ति उपन्यास में पात्रों के पारस्परिक सम्बन्धों, घटनाओं के घात-प्रतिघात, समस्याओं के उद्घाटन एवं उनके समाधानों के स्वरूप में उपलब्ध होती है। प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द-परम्परा के उपन्यासों में चरित्र-चित्रण, कथानक का संगठन, समस्याओं का समाधान आदि समाज-हित तथा समष्टि-चिन्तन की विचारधारा का परिणाम है। इस प्रवृत्ति के उपन्यासों में व्यक्ति तथा समाज के जीवन की गतिविधि को समाज-कल्याण की कसौटी पर परखा गया है और मानव के हित को भी इसी दृष्टि से आँका गया है। इस मत को स्पष्ट करने के लिए प्रेमचन्द की उपन्यास-कला के उद्देश्य की तुलना अज्ञेय के उपन्यास-साहित्य के उद्देश्य से की जा सकती है। इन दोनों उपन्यासकारों के उद्देश्य में भारी अंतर पाया जाता है, जिसके फलस्वरूप इनकी उपन्यास-कला का वस्तु-पक्ष एवं शिल्प-पक्ष एक दूसरे से नितान्त भिन्न है। अज्ञेय की उपन्यास-कला का गन्तव्य व्यक्ति-चिन्तन, व्यक्ति-हित

एवं व्यक्ति-विलास की जीवन-दृष्टि से अनुप्राणित है। यह विचारधारा उनके उपन्यासों में चरित्र-चित्रण आदि को निरूपित करती है। अज्ञेय व्यक्ति तथा समाज में पारस्परिक सम्बन्ध का चित्रण एवं मूल्यांकन व्यक्ति-चिन्तन की दृष्टि से करते हैं। वे परोक्ष रूप में सामाजिक मान्यताओं की आलोचना भी इसी आधार पर करते जान पड़ते हैं। इसके विपरीत प्रेमचन्द के उपन्यासों में चरित्र-चित्रण तथा सामाजिक विधान का निरूपण आदि समष्टि-चिन्तन के साँचे में ढले हुए हैं। इन दो परस्पर-विरोधी जीवन-दृष्टियों के आधार पर इस परिणाम पर पहुँचना भी अनुचित होगा कि प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य में व्यक्ति-हित एवं व्यक्ति-विकास के भाव का नितान्त अभाव है और अज्ञेय के उपन्यासों में सामाजिक पक्ष की नितान्त उपेक्षा है। मूल प्रश्न समाज-चिन्तन तथा व्यक्ति-चिन्तन की प्रधानता का है, जो उपन्यास के वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष को विशिष्ट रूप देती है। प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य में भी उनकी जीवन-दृष्टि समष्टि-चिन्तन से व्यक्ति-चिन्तन की ओर उन्मुख है, सूरदास से होरी की ओर विकासशील है। उनका व्यष्टि-चिन्तन अन्ततः समष्टि-चिन्तन की जीवन-दृष्टि से अनुप्राणित है। प्रेमचन्द व्यक्ति के हित का चित्रण एवं निरूपण मूलतः समाज-मंगल की ,दृष्टि से करते हैं। इसलिए प्रेमचन्द का सूरदास अज्ञेय के शेखर से भिन्न व्यक्तित्व रखता है। उपन्यास के नायक का व्यक्तित्व परोक्ष रूप में प्रायः लेखक की जीवन-दृष्टि से प्रेरित होता है। यदि उपन्यासकार की कृतियों में नायक के व्यक्तित्व की पुनरावृत्ति देखने को मिलती है तो यह धारणा और भी पुष्ट हो जाती है। प्रेमचन्द तथा अज्ञेय की उपन्यास-कला के मूल में समष्टि-मंगल तथा व्यक्ति-हित की विचारधाराओं का विश्लेषण इसलिए किया गया है कि अश्क के उपन्यास-साहित्य को प्रेरित एवं संचालित करने वाली जीवन-दृष्टि को स्पष्ट किया जा सके। अश्क की जीवन-दृष्टि इन दो

अतिवादी विचारधाराओं के बीच उस पथ को प्रशस्त करती है जो व्यक्ति-चिन्तन के अधिक निकट है, परन्तु समष्टि-चिन्तन से दूर भी नहीं है। प्रेमचन्द की समाज-मंगल की भावना का स्वरूप सामान्य है और जब यह मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित हो जाती है तब यह विशिष्ट एवं वैज्ञानिक रूप धारण करती है। इस विचारधारा से प्रेरित होकर प्रगतिवादी अथवा समाजवादी उपन्यास का विकास होता है। इसी भाँति अज्ञेय का व्यक्ति-चिन्तन विशिष्ट है और अश्क का व्यक्ति-चिन्तन सामान्य है। व्यक्तिवादी उपन्यास सामान्य व्यक्ति-चिन्तन से प्रभावित है और मनोविश्लेषणवादी अथवा मनोवैज्ञानिक उपन्यास के मूल में मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से पुष्टकर व्यक्ति-चिन्तन का स्वरूप विशिष्ट है। इसे अतिशय व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन की संज्ञा मार्क्सवादी आलोचकों ने दी है। इस प्रकार हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में चार विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रायः समानान्तर विकास उपलब्ध होता है। इन प्रवृत्तियों के मूल में व्यक्ति-चिन्तन और समष्टि-चिन्तन की परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ हैं जो उपन्यास के वस्तु एवं शिल्प पक्ष को रूपायित करती हैं। प्रेमचन्द-परम्परा के उपन्यास-साहित्य के मूल में समाज-सत्य, समाज-मंगल अथवा समाज-यथार्थ की जीवन-दृष्टि है, अश्क की उपन्यास-कला को प्रेरित करने वाला व्यक्ति-सत्य, व्यक्ति-हित अथवा व्यक्ति-यथार्थ का दृष्टिकोण है। इनकी विचार-दृष्टि का स्वरूप विशिष्ट न होकर सामान्य है, मतवादी न होकर साधारण है, संकुचित न होकर व्यापक है। इन दो उपन्यासकारों में अंतर को स्पष्ट करने के लिए इनकी कृतियों में नायकों के स्वरूप तथा समस्याओं के चित्रण से अवगत होना अपेक्षित है। अश्क की व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि आश्रमों तथा सदनों की स्थापना करने के पक्ष में नहीं है। प्रेमचन्द मानव की समस्याओं का समाधान करने के लिए सामाजिक संस्थाओं की कल्पना करते हैं। वे किसान के जीवन को सुखी बनाने

के लिए प्रेमाश्रम और विधवा एवं परित्यक्ता नारी की समस्या को हल करने के लिए नारी-निकेतन अथवा वनिताश्रम की सोचते हैं। अश्क का दृष्टिकोण विधवा की व्यक्तिगत समस्याओं से ही सम्बन्ध रख सकता है। उनकी उपन्यास-कला का उद्देश्य व्यक्ति-सत्य के उद्घाटन में निहित है। प्रेमचन्द ने धीरे-धीरे यह अनुभव कर लिया था कि आश्रमों के माध्यम से किसान का कल्याण संभव नहीं है। इस कारण लेखक ने 'गोदान' में किसी सामाजिक संस्था को स्थापित नहीं किया है जिसके द्वारा होरी की जीवन-स्थिति में सुधार लाया जा सके। प्रेमचन्द के इस मोह-भंग को अश्क ने परम्परा में प्राप्त किया है। इसलिए उनकी उपन्यास-कला का उद्देश्य व्यक्तिमूलक है और वह व्यक्ति-सत्य की जीवन-दृष्टि से अनुप्राणित है।

अश्क की उपन्यास-कला

अश्क की उपन्यास-कला के वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करने के लिए उसके मूल में व्यक्ति-चिन्तन की विचारधारा से अवगत होना आवश्यक है, जो उनके उपन्यास-साहित्य के वस्तु-पक्ष एवं शिल्प-पक्ष को आकार देती है और जिसके आधार पर उनकी कृतियों के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों का परिहार हो सकता है। अश्क की उपन्यास-कला को परस्पर-विरोधी संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उपन्यासकार अश्क के मूल्यांकन के सम्बन्ध में आलोचकों में कितना भारी मतभेद है। यह मतभेद उनके उपन्यासों के वस्तु एवं शिल्प दोनों पक्षों के विवेचन में उपलब्ध होता है। शिवदानसिंह चौहान ने अश्क के उपन्यास 'गिरती दीवारें' को प्रेमचन्द की यथार्थवादी उपन्यास-परम्परा में रखा है और उनके 'गर्मराख' को प्रकृतवादी उपन्यास की संज्ञा दी है। इस नामकरण का आधार एक में व्यापक जीवन का चित्रण है और दूसरे में जीवन की यथातथ्य

अभिव्यक्ति है। प्रकृतवादी उपन्यास में लेखक की प्रवृत्ति पात्रों के कुण्ठित, खण्डित एवं तुच्छ जीवन के चित्रण में लक्षित होती है। प्रकृत-वादी साहित्य में मनुष्य का रूप यन्त्रात्मक एवं बायोलाजिकल बन जाता है। चौहान के मतानुसार 'गर्मराख' के अधिकांश पात्र बायो-लाजिकल जीव हैं। इस आधार पर 'गिरती दीवारें' के पात्र यन्त्रात्मक न होकर गत्यात्मक हैं, बायोलाजिकल न होकर मानवीय हैं। चौहान का यह मूल्यांकन उपन्यासगत और भ्रामक है, अश्क की समस्त उपन्यास-कला का मूल्यांकन नहीं है। इसके विपरीत नलिनविलोचन शर्मा 'गिरती दीवारें' के नायक के व्यक्तित्व की आलोचना करते हुए उसे एक कुण्ठित एवं दयनीय चरित्र के रूप में आँकते हैं। डॉ० देवराज उपाध्याय इस नायक के पोर-पोर में, गाँठ-गाँठ में फ्रायड की सेक्स-सम्बन्धी भावना की अभिव्यक्ति पाते हैं। वे लेखक के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'अश्क की यह बद्धमूल धारणा बन चुकी है कि आधुनिक युग के मानव के लिए विकसित होने का अवसर नहीं मिल सकता। उसके विकास के लिए रोटी-सेक्स की सुविधा अपेक्षित है।' डॉ० उपाध्याय की दृष्टि में उपन्यास का नायक चेतन इन दो भावनाओं से आक्रान्त है और वह सामाजिक शृंखलाओं को तोड़कर उन्मुक्त वातावरण में विचरण करना चाहता है। वे उपन्यास में समाज के प्रति कटुता की अभिव्यक्ति तो पाते हैं, परन्तु उपन्यास उनके हृदय में चुभता नहीं है। उन्हें एक खोखलापन दृष्टिगत होता है। डॉ० धर्मवीर भारती इसी उपन्यास को निम्न-मध्यवर्ग के जीवन का तटस्थ चित्रण के रूप में आँकते हैं, परन्तु नायक के मानस को रुग्ण तथा अस्वस्थ पाते हैं। वे अश्क को इतना सावधान कर संतुष्ट हो जाते हैं कि वे उपन्यास के अगले भाग में नायक के व्यक्तित्व को एक ऐसे साँचे में ढालने का प्रयास करें जिससे वह संशय एवं अविश्वास की दीवारों को तोड़कर सामाजिक परिवेश में एक स्वस्थ इकाई की

भाँति अपना योग दे। इस प्रकार अश्क के एक ही उपन्यास के सम्बन्ध में मतभेद का पाया जाना आलोचकों के विभिन्न मानदंडों अथवा मानदंडों के अभाव का परिणाम है। इस प्रकार का मतभेद उनके अन्य उपन्यासों के मूल्यांकन में भी पाया जाता है। इसका मूल कारण यह जान पड़ता है कि उनकी उपन्यास-कला के मूल में उस व्यक्ति-चिन्तन की विचारधारा तथा व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि को उनके उपन्यासों के मूल्यांकन का आधार नहीं बनाया गया, जो उनके उपन्यास-साहित्य को प्रेरित एवं रूपायित करने वाली नियामक शक्ति है। इसके आधार पर उनकी कला का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो सकता है।

अश्क मूलतः 'व्यक्तिवादी' उपन्यासकार हैं और व्यक्तिवादी उपन्यास की स्वतन्त्र प्रवृत्ति को स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रवृत्ति के उपन्यास-साहित्य की वस्तुगत एवं शैलीगत विशेषताएँ हैं, जिनकी कसौटी पर इसकी उपलब्धियों एवं सीमाओं को परखा जा सकता है। नन्द-दुलारे वाजपेयी ने जैनेन्द्र की उपन्यास-कला का मूल्यांकन करते हुए व्यक्तिवादी उपन्यास को पारिभाषित करने का प्रयत्न किया है। उनके मतानुसार व्यक्तिवादी उपन्यास में व्यक्तिगत जीवन-घटना, व्यक्तिगत चरित्र, व्यक्तिगत मनोविज्ञान, व्यक्तिगत जीवन-समस्या आदि का निरूपण या निर्देश सर्वोपरि रहता है। इस परिभाषा के आधार पर अज्ञेय की उपन्यास-कला भी मनोविश्लेषणवादी न होकर व्यक्तिवादी उपन्यास की कोटि में रखी जायगी। अज्ञेय की उपन्यास-कला में व्यक्ति-चिन्तन की विचारधारा का विशिष्ट रूप परिलक्षित होने के फलस्वरूप उनकी कृतियों को व्यक्तिवादी संज्ञा देने की अपेक्षा मनोविश्लेषणवादी संज्ञा देना अधिक उपयुक्त होगा। इसी भाँति जैनेन्द्र की कला व्यक्तिवादी तथा मनोविश्लेषणवादी उपन्यास के बीच की कड़ी है और उसका वास्तविक स्वरूप व्यक्तिवादी न होकर अतिशय व्यक्तिवादी है। व्यक्ति-

वाद के दो विभिन्न धरातल हैं। अश्क का व्यक्तिवाद जैनेन्द्र के अति-वाद से भिन्न है। इस सूक्ष्म अंतर को दृष्टि में रखकर अश्क तथा जैनेन्द्र के औपन्यासिक उद्देश्य का मूल्यांकन अपेक्षित है। एक ओर अश्क की उपन्यास-कला प्रेमचन्द-परम्परा के उपन्यास-साहित्य से भिन्न है और दूसरी ओर वह जैनेन्द्र, अज्ञेय तथा इलाचन्द्र जोशी के औपन्यासिक उद्देश्य से विलग हो जाती है। उद्देश्य एवं जीवन-दृष्टि की विभिन्नता के कारण व्यक्तिवादी उपन्यास-प्रवृत्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व है। सामाजिक, समाजवादी, व्यक्तिवादी तथा मनोविश्लेषणवादी सभी उपन्यासकार यथार्थवादी हैं, परन्तु उनके यथार्थ के उद्घाटन एवं चित्रण में अंतर पाया जाता है और इस अंतर का कारण उनकी विभिन्न जीवन-दृष्टियाँ हैं, जो यथार्थ को साकार रूप देती हैं। अश्क के उपन्यासों में यथार्थ का चित्रण है, जीवन-वास्तव ही अभिव्यक्ति है, सामाजिक पक्ष का विवेचन है; परन्तु यथार्थ के चित्रण को रूपायित करने वाला दृष्टिकोण व्यक्ति-चिन्तन का है, जीवन-वास्तव की अभिव्यक्ति को प्रेरित करने वाली जीवन-दृष्टि व्यक्तिमूलक है और सामाजिक पक्ष के मूल्यांकन का मानदंड व्यक्ति-विकास है। व्यक्तिवाद एक स्वतन्त्र जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकृत है। इसका जन्म एवं विकास पूँजीवादी युग में हुआ है और इसका मूल सूत्र रूसो की इस पंक्ति में उपलब्ध होता है—'मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र है, परन्तु उसे दासता की कड़ियों में जकड़ा हुआ पाते हैं।' इस वक्तव्य में सामन्ती संस्कृति की मान्यताओं का विरोध लक्षित होता है। इस विचारधारा के परिणाम-स्वरूप अश्क समाज-मंगल के विचारों को व्यक्ति-हित की कसौटी पर परखते हैं। इसके विपरीत प्रेमचन्द व्यक्ति-विकास को समाज-कल्याण की दृष्टि से आँकते हैं। इन दो जीवन-दृष्टियों में अंतर को स्पष्ट करने के लिए विवाह के प्रति इन लेखकों की प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण अपेक्षित है। विवाह एक सामाजिक संस्था है और प्रेमचन्द प्रायः

प्रणय की परिणति विवाह में देखने के पक्ष में हैं। 'रंगभूमि' में विनय-सोफ़िया और 'गोदान' में मेहता-मालती के सम्बन्ध इस धारणा के अपवाद मात्र हैं। इसके विपरीत अश्क प्रणय को एक वैयक्तिक सम्बन्ध के रूप में देखने के पक्ष में हैं। इस उदाहरण से प्रेमचन्द तथा अश्क की क्रमशः समाज-सत्य तथा व्यक्ति-सत्य की अभिव्यक्ति में अंतर स्पष्ट हो जाता है। इस व्यक्ति-सत्य को अभिव्यक्ति देने वाले उपन्यासकारों में जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा, रामेश्वर शुक्ल अंचल, उदय-शंकर भट्ट, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, उषादेवी मित्रा आदि की गणना की जा सकती है। यदि अश्क की उपन्यास-कला का मूल्यांकन इस धरातल पर किया जाय तो उनकी कृतियों के सम्बन्ध में जिन परस्पर-विरोधी मन्तव्यों को व्यक्त किया गया है उनका स्पष्टीकरण हो जाता है। अश्क के उपन्यासों में व्यक्ति-सत्य को व्यंजित करने की प्रवृत्ति पात्रों के स्वरूप-विकास, घटनाओं के संयोजन तथा उद्देश्य के निरूपण को प्रेरित करती है। उनके पाँचों उपन्यासों के स्वर में जो अंतर पाया जाता है वह मूलगत न होकर शाखागत है, आन्तरिक न होकर बाह्य है, सरगममय न होकर आलापमय है। उनके उपन्यासों में नायक का स्वरूप-विकास लगभग एक ही साँचे में ढला हुआ है; और लगभग इसलिए है कि 'पत्थर-अलपत्थर' का नायक हसनदीन उनके अन्य नायकों की रचना से भिन्न है। इससे यह अनुमान लगाना सुगम हो जाता है कि अश्क के नायकों का स्वरूप-विकास प्रेमचन्द के नायकों के स्वरूप-विकास की भाँति आत्मचरितात्मक है, आत्मगत अनुभूतियों से सम्पन्न है। 'सितारों के खेल' के ना[illegible] सीलाल, 'गिरती दीवारें' के चेतन, 'गर्मराख' के जगमोहन और 'बड़ी-बड़ी आँखें' के संगीत में जातीय समानता के गुण, लक्षण एवं संस्कार हैं। इन नायकों के जीवन की गतिविधि को संचालित करने वाली शक्ति व्यक्ति-चिन्तन की है और सामाजिक मान्यताओं तथा परम्पराओं की आलोचना के मूल

में इनकी जीवन दृष्टि व्यक्ति-हित एवं व्यक्ति-विकास से प्रभावित है। अश्क को प्रेमचन्द-परम्परा के उपन्यासकारों की पंक्ति में खड़ा करने की भूल इसलिए की गयी है कि इनके उपन्यासों में सामाजिक रूढ़ियों एवं विकृतियों की कड़ी आलोचना उपलब्ध होती है। परन्तु इस आलोचना का धरातल कैसा है, इसका उद्देश्य क्या है, इसकी प्रेरक शक्ति कौन-सी है आदि की उपेक्षा की गयी है। इसलिए इनकी उपन्यास-कला के वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करने में और इनके उपन्यासों के मूल्यांकन में अनेक भ्रान्तियों का प्रसार हुआ है। इन भ्रान्तियों का परिहार अश्क की मूल जीवन-दृष्टि के आधार पर ही सम्भव हो सकता है। इस जीवन-दृष्टि के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ हैवलाक एलिस की धारणा है कि किसी भी व्यक्ति के दार्शनिक सिद्धान्त का निर्माण अवचेतन पद्धति द्वारा होता है; यह एक तरह का आन्तरिक विकास है जो हमारे नियन्त्रण से बाहर है। अश्क की जीवन-दृष्टि अन्ततोगत्वा व्यक्तिमूलक है। युग की परिस्थितियों एवं विचार-धाराओं की जो अभिव्यक्ति उनके उपन्यासों में उपलब्ध होती है, वह इस जीवन-दृष्टि से रूपायित है।

अपनी उपन्यास-कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में अश्क का कथन है—'गिरती दीवारें की रचना करने से पहले मेरे दिमाग़ में एक बृहदाकार उपन्यास की रूपरेखा बन गयी, जिसमें समाज की रूढ़िवादिता और कुरीतियों के शिकंजे में जकड़े हुए एक निम्न-मध्यवर्गीय युवक के मनोविज्ञान का यथार्थवादी चित्रण करने की मैंने सोची। मैं चाहता था उपन्यास ऐसे लिखूँ कि अपनी ओर से कुछ न कहना पड़े और उपन्यास को पढ़कर पाठक के मन में यह प्रबल इच्छा पैदा हो कि यह समाज बदल दिया जाय ताकि व्यक्ति बेहतर तौर पर प्रगति कर सके और अपनी प्रकृत शक्तियों को कुण्ठित होने से बचा कर अपने भव्य रूप को पा सके।' इस कथन की अन्तिम पंक्तियों में लेखक

के उद्देश्य का स्पष्टीकरण हो जाता है। इन प्रकृत शक्तियों में, जिनकी ओर लेखक का संकेत है, काम-भावना एक मूल शक्ति है जो कुण्ठित होकर व्यक्ति-जीवन को विकृत बनाती है और व्यक्ति-विकास के पथ पर बाधा बनकर आती है। इसलिए समाज को बदलने के लिए अश्क का उद्देश्य व्यक्ति-चिन्तन तथा व्यक्ति-हित की जीवन-दृष्टि से प्रेरित है और इसी आधार पर वे अपने पात्रों के माध्यम से 'समाज की रूढ़िवादिता और कुरीतियों' को आँकते हैं। इन सामाजिक विषमताओं का विश्लेषण एवं चित्रण समष्टि-चिन्तन के आधार पर भी उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में किया है, परन्तु उन उपन्यासकारों की कोटि में अश्क को नहीं रखा जा सकता। अपने दो उपन्यासों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए लेखक ने अपनी धारणा को इन शब्दों में व्यक्त किया है—'गिरती दीवारें वातावरण-प्रधान उपन्यास है, उसमें व्यक्ति के माध्यम से समाज का चित्र प्रस्तुत किया है जब कि 'गर्मराख' में समाज के माध्यम से व्यक्तियों का। 'गिरती दीवारें' समस्या-प्रधान नहीं व्यक्ति-प्रधान है, यों उसमें समस्याओं की कमी नहीं, 'गर्मराख' समस्या-प्रधान है। और जब वह एक समस्या को लेकर चलता है तो उसी के विभिन्न तान-पलटे उसमें दिखायी देते हैं।' इस वक्तव्य में 'वातावरण-प्रधान', 'व्यक्ति-प्रधान', 'समस्या-प्रधान' आदि शब्दों से उपन्यास-विशेष की शैलीगत विशेषता तो स्पष्ट हो जाती है, परन्तु व्यक्ति-चित्रण तथा समस्याओं के उद्घाटन के मूल में जो प्रेरक शक्ति है उसका स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। प्रेमचन्द ने भी शैली की दृष्टि से समस्या-प्रधान एवं व्यक्ति-प्रधान उपन्यासों की रचना की है। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' आदि 'समस्या-प्रधान' और 'गबन', 'गोदान' आदि 'व्यक्ति-प्रधान' उपन्यास कहे जा सकते हैं। प्रेमचन्द्र की समस्त उपन्यास-कला को समस्या-मूलक भी सिद्ध करने का प्रयास हुआ है। प्रश्न व्यक्ति-प्रधान अथवा

समस्या-प्रधान होने का इतना नहीं है जितना व्यक्ति-चित्रण तथा समस्या-निरूपण के मूल में लेखक की जीवन-दृष्टि का है। इसलिए अश्क के उपन्यासों में व्यक्ति के माध्यम से समाज को देखने या समाज के माध्यम से व्यक्तियों को आँकने में मूल भावना समाज-मंगल की न होकर व्यक्ति-हित की है। इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि अश्क समाज-मंगल के विरोधी हैं अथवा समाज-सत्य की उपेक्षा करते हैं, परन्तु इससे इतना स्पष्ट करना अभीष्ट है कि सामाजिक विकास का उद्देश्य व्यक्ति-हित की कसौटी पर ही परखा जा सकता है। इसलिए वे एक ओर प्रेमचन्द की भाँति समष्टि-चिन्तन से प्रभावित होकर सदनों, निकेतनों तथा आश्रमों की स्थापना नहीं करते और यशपाल की तरह सामाजिक विधान को रूपांतरित करने के लिए मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को आधार नहीं बनाते और दूसरी ओर वे अतिशय व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि से प्रेरित होकर अज्ञेय की भाँति व्यक्ति-चिन्तन में इतना उलझ नहीं जाते हैं कि व्यक्ति सामाजिक धारा से कट कर 'नदी का द्वीप' बन जाय। इस प्रकार अश्क के उपन्यासों का व्यक्ति-प्रधान एवं समस्या-प्रधान होना उनकी वस्तुगत निजता न होकर शैलीगत विशेषता है। उनकी व्यक्तिमूलक उपन्यास-कला कभी व्यक्ति-चित्रण को केन्द्र बनाकर विकास पाती है और कभी सामाजिक समस्याओं के चित्रण द्वारा अपना पथ प्रशस्त करती है। यह उनकी उपन्यास-कला का मूल स्वर है, जो उनकी कृतियों में विभिन्न रूपों में ध्वनित होता है।

अश्क ने हिन्दी के अन्य उपन्यासकारों की भाँति अपने उद्देश्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वे उपन्यास-सम्बन्धी प्रकृतवाद एवं यथार्थवाद के विवाद से बचने के लिए अपने यथार्थवाद के स्वरूप को आलोचनात्मक यथार्थवाद (Critical realism) की संज्ञा देना उपयुक्त समझते हैं। इसलिए वे समाज के यथार्थ की

व्यंग्य-विद्रूप और हास्य के माध्यम से आलोचना करते हैं। आलोचनात्मक यथार्थवाद शब्द मार्क्सवादी आलोचकों की गढ़न है। इस शब्द की रचना इसलिए की गयी है ताकि आलोचनात्मक यथार्थवाद तथा समाजवादी यथार्थवाद (socialist realism) में उद्देश्य की दृष्टि से अंतर स्पष्ट हो सके। इस आधार पर मार्क्सवादी आलोचकों ने टाल्सटाय, बालज़ाक, स्टेण्ड्हल, ज़ोला आदि उपन्यासकारों की कृतियों को आलोचनात्मक यथार्थवाद से प्रेरित स्वीकार किया है और मैक्सिम गोर्की, शलोखोव, एहरन बर्ग आदि की रचनाओं को समाजवादी यथार्थवाद से अनुप्राणित माना है। इस प्रकार इन दो प्रवृत्तियों के उपन्यासकारों में उद्देश्य के अंतर को निरूपित करने का प्रयास किया गया है। अश्क भी इस आलोचना-पद्धति के अधीन होकर अपनी उपन्यास-कला को आलोचनात्मक यथार्थवाद की संज्ञा देते हैं। प्रेमचन्द ने भी इसी कोटि का प्रयत्न किया है जब वे अपने उपन्यास-साहित्य को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के विशेषण से मण्डित करते हैं। इस प्रकार यथार्थवाद शब्द का शिथिल प्रयोग उपन्यासकारों के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों को जन्म देने में ही सफल हुआ है। सभी उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में यथार्थ का चित्रण किया है; परन्तु उनके यथार्थ का स्वरूप क्या है, उसका उद्देश्य क्या है—इसका विश्लेषण करने के लिए लेखक की मूल जीवन-दृष्टि से अवगत होना अपेक्षित है। इस जीवन-दृष्टि का मूल्यांकन व्यक्ति-चिन्तन तथा समष्टि-चिन्तन के धरातल पर ही हो सकता है। विश्व के सभी उपन्यासकारों ने युग-चेतना तथा अपनी निजी परिस्थितियों के फलस्वरूप व्यक्ति-चिन्तन तथा समष्टि-चिन्तत के विभिन्न स्तरों के आधार पर व्यक्ति तथा समाज के जीवन को आँका एवं चित्रित किया है। अश्क की उपन्यास-कला में जीवन तथा जगत को आँकने तथा चित्रित करने वाली दृष्टि व्यक्ति-चिन्तन की है, जो उनके व्यक्तिगत

संस्कारों तथा युगगत विचारों का परिणाम है।

उत्तर-प्रेमचन्द-काल में चेतना के दो मूल स्वर मुखरित होते हैं—एक का सम्बन्ध व्यक्ति-विकास तथा व्यक्ति-सत्य से है और दूसरे का समाज-विकास तथा समाज-सत्य से है। अश्क निम्न-मध्यवर्गीयसमाज के बुद्धिजीवी सदस्यों में से हैं, जो उस सामाजिक परिवेश के प्रति विद्रोह करने पर तुल जाते हैं, जिसमें उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसरों का अभाव-ही-अभाव है। बचपन तथा यौवन काल की कड़ी अनुभूतियों ने उनकी जीवन-दृष्टि को निर्मित किया है। इस युग में सामाजिक परिवेश का विश्लेषण एवं विरोध दो दृष्टियों से हुआ है—एक समष्टि-चिन्तन की ओर उन्मुख है और इस पर समाजवादी विचारधारा की छाप है और दूसरी व्यक्ति-चिन्तन से प्रभावित है, जिस पर मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों की छाप है। अश्क की जीवन-दृष्टि में दोनों विचारधाराओं का प्रभाव लक्षित होता है; **परन्तु उन्होंने हृदय से व्यक्ति-चिन्तन तथा बुद्धि से समष्टि-चिन्तन को अपनाया है।** उनके विचारों तथा संस्कारों में अंतर का यही कारण है। उनकी जीवन-दृष्टि मूलतः व्यक्ति मूलक है, जिसके आधार पर उनकी उपन्यास-कला का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है।

सितारों के खेल

अश्क की मूलभूत जीवन-दृष्टि से अवगत होने के उपरान्त उनके उपन्यासों का विवेचन अपेक्षित है। अब तक (१९६० तक) उनके पाँच उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं—सितारों के खेल (१९४०), गिरती दीवारें (१९४७), गर्मराख (१९५२), बड़ी-बड़ी आँखें (१९५५) और पत्थर-अलपत्थर (१९५७)। लेखक ने 'सितारों के खेल' से लेकर 'पत्थर-अलपत्थर' तक अपने उपन्यास-साहित्य की गतिविधि पर एक स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में आलोक डाला है, जो उनके सन्तान के प्रति पिता के

दृष्टिकोण का परिचायक है। अपने प्रथम उपन्यास 'सितारों के खेल' में, जो शैली की दृष्टि से एक घटना-प्रधान उपन्यास है, लेखक ने नियति के प्रश्न को उठाया है और जीवन में नियति के व्यापार एवं महत्व को समझने के लिए घटनाओं का चयन एवं संयोजन किया है। नियति के व्यापार को साकार करने के लिए उन घटनाओं की अपेक्षा होती है जो मानव के जीवन को संचालित करतीं हैं और जिन पर उसका वश नहीं होता। इस उपन्यास में व्यक्ति की शत्रु नियति है। उसके स्वरूप को उद्घाटित करने के लिए प्रेम तथा विवाह की समस्या को उपन्यास का केन्द्र बनाया गया है। इसके लिए त्रिकोण की रचना की अपेक्षा होती है—बंसीलाल, लता और जगत कथानक के तीन कोण हैं। लता के वृद्ध पिता अपने कन्धों से बोझ उतारने के लिए उसका विवाह जगत से सम्पन्न करने का निश्चय करते हैं, परन्तु जगत के हृदय में नारी के प्रति प्रेम भावनामय न होकर वासनामय है। उसका वास्तविक स्वरूप जब प्रकट हो जाता है तब लता के हृदय में बंसीलाल के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। यह श्रद्धा तब उत्पन्न होती है जब बंसीलाल मकान की छत से गिरकर घायल अवस्था में अस्पताल पहुँचता है। आगे चलकर बंसीलाल के उन्माद तथा बलिदान के प्रति लता का श्रद्धाभाव शिथिल पड़ने लगता है और उसके मांस-पिंड का वास्तविक वीभत्स रूप उसके सामने उभरने लगता है। लता की इस मानसिक स्थिति में उसके जीवन में एक तीसरा व्यक्ति प्रविष्ट होता है, जो लता के सम्पर्क में आने से पहिले तीन अन्य नारियों के सम्पर्क में आ चुका है। डॉ० अमृतराय लता के त्याग-भाव पर इतना मुग्ध हो जाता है कि वह साहस बटोरकर लता से अपने प्रेम-भाव को व्यक्त कर देता है। यह त्रिकोण का नया रूप है। परन्तु बंसीलाल का मांस-पिंड इन दोनों के बीच दीवार बनकर खड़ा है और जिसे हटाने के लिए लता बंसीलाल को विष पिला देती है। परन्तु नियति

के कठोर विधान ने डॉक्टर और लता का गठबन्धन भी सम्पन्न न होने दिया। भयंकर रोग से ग्रस्त होकर मरने से पहिले डॉक्टर अमृतराय से लता का अनुरोध करना कि वे राजरानी से विवाह कर लें, कथानक को कृत्रिम बनाता है। इससे उपन्यास का मूल उद्देश्य अवश्य स्पष्ट हो जाता है। इन घटनाओं के माध्यम से लेखक को अपना उद्देश्य व्यक्त करना अभीष्ट है। लता डॉक्टर से इन शब्दों में अनुरोध करती है—'भटकने के लिए आप नहीं बने, बंसीलाल था भटकने के लिए, मैं थी भटकने के लिए। संसार-सागर को पार करने के लिए भावुकता के चप्पू काम नहीं आते।......बंसीलाल को मार कर पाप किया या पुण्य, यह मैं नहीं जानती, डॉक्टर साहब। पर यह सब अच्छा ही हुआ। उसके और मेरे मध्य जो पर्दा-सा छा गया था, मौत ने उसे हटा दिया और उस पर्दे के हट जाने पर वह और मैं फिर आमने-सामने हो गये।' इस कथन से लेखक का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। लता का वक्तव्य 'मैंने पाप किया या पुण्य, यह मैं नहीं जानती' प्रेम के आत्मगत एवं व्यक्तिमूलक स्वरूप को ही उभारता है। प्रेम व्यक्तिगत है और विवाह समाजगत। उपन्यासकार ने प्रेम के वैयक्तिक पक्ष का प्रतिपादन करने के लिए कथानक को कृत्रिम मोड़ दिये हैं, लता तथा बंसीलाल के जीवन का अन्त करना पड़ा है, अमृतराय का विवाह राजरानी से कराना पड़ा है। इस प्रकार यहाँ प्रेम तथा विवाह की समस्या को उठा कर उसका समाधान घटनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास में प्रेम को निष्फल बनाने में नियति को इसका कारण बनाया गया है। इसलिए उपन्यास का नाम भी 'सितारों के खेल' रखा गया है। नियति की अभिव्यक्ति घटनाओं के द्वारा ही होती है और इस स्थिति में पात्रों का कठपुतली होना भी स्वाभाविक है। उपन्यास की मूल समस्या प्रेम तथा विवाह की है। इसके प्रति अश्क की जीवन-दृष्टि व्यक्तिवादी है, जो प्रेम के

व्यक्तिमूलक पक्ष को उभारना चाहती है। यह जीवन-दृष्टि उपन्यास के वस्तु-पक्ष एवं शिल्प-पक्ष को रूप तथा आकार देने में सहायक होती है। इस उपन्यास की रचना करते समय लेखक का अनुभव इतना परिपक्व और विवेक इतना प्रौढ़ नहीं था कि वह नियति के व्यापार को सामाजिक रूढ़ियों के रूप में भी आँक सके, उसमें इतनी क्षमता नहीं थी कि निष्फल प्रेम के कारणों को सामाजिक विधान में भी खोज सके। अश्क इस अभाव को स्वयं स्वीकार करते हैं कि इस समय तक उनकी आँखों को यथार्थवादी दृष्टि नहीं मिली थी, वे आदर्शवादी स्थितियों में यथार्थता पाने के प्रयास में थे। उनके मस्तिष्क में सती अनुसुइया की पौराणिक कथा प्रश्न-चिह्न बन कर आती थी—एक युवती किसी अपाहिज पति को जीवन-भर अपने कंधों पर किस प्रकार लिये घूम सकती है! उपन्यास की नायिका लता पौराणिक सती अनुसुइया की प्रतीक है, जिसकी जीवन-दशा को आधुनिक परिस्थितियों में चित्रित करने का प्रयास किया गया है। इस मूलभूत विचार को लेखक ने काल्पनिक घटनाओं के द्वारा प्रस्तुत किया है। पौराणिक कथा का आदर्श अश्क को अमान्य है। वे यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि किस प्रकार धर्म, समाज और अतिभावुकता की तीन शृंखलाएँ एक सामान्य नारी को दुखी बना सकती हैं। उनका व्यक्ति-सत्य से प्रभावित दृष्टिकोण सामन्ती संस्कृति के समाज-सत्य से प्रेरित इस जीवन-मूल्य को स्वीकार नहीं करता। इसलिए वे इस आदर्श का विरोध करते हैं। लेखक का भाग्यवादी होना भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य की विफलता का परिणाम है, परन्तु भाग्यवाद की अभिव्यक्ति उपन्यास का मूल उद्देश्य नहीं है। इसका मूलभूत विचार उस प्राचीन आदर्श के विरोध द्वारा व्यक्त हुआ, जो व्यक्ति-विकास एवं व्यक्ति-चिन्तन के पथ पर बाधा बनकर आता है। इसकी अभिव्यक्ति पौराणिक सती की स्थिति में आधुनिक नारी को विन्यस्त कर उसके मनोविज्ञान के चित्रण द्वारा



की गयी है। [illegible] को लता के अन्तिम संदेश में इस धारणा की पुष्टि होती है — [illegible] तरह स्वतन्त्र रह कर न भटकना। प्रकृति ने जिस [illegible] पुरुष-स्त्री का सृजन किया है, उसकी पूर्ति का मार्ग सबसे अच्छा मार्ग है। इस से लता की निराशाजनक मानसिक स्थिति का आभास मिल जाता है। इस प्रकार उपन्यास का उद्देश्य उस पौराणिक मान्यता का विरोध करने से स्पष्ट हो जाता है, जो सती के आदर्श में लक्षित होता है और सती का पौराणिक आदर्श समाज-मंगल की भावना से अनुप्राणित है।

उपन्यास के वस्तु एवं शैली दोनों पक्ष उस उद्देश्य से प्रभावित हैं। उपन्यास को शैली की दृष्टि से घटना-प्रधान, रोमानोन्मुख यथार्थवादी, यथार्थोन्मुख रोमानवादी आदि संज्ञाओं से अभिहित करना उसके उचित विवेचन में सहायक नहीं होता। उसके सही मूल्यांकन के लिए उसके उद्देश्य का विश्लेषण आवश्यक है। इसका वस्तु-पक्ष और शिल्प-विधान अश्क की व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि से रूपायित है, जो आधुनिक युग-चेतना और लेखक के व्यक्तिगत परिवेश का परिणाम है। अब तक प्रेम की परिणति विवाह में स्वीकृत होती रही है और इस मान्यता को साहित्यकार अनायास अपनाता रहा है। इस पर प्रश्न-चिह्न लगाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी है। जिस संक्रान्ति काल में अश्क का जन्म और जीवन-यापन हुआ है, उसमें अनेक पुरातन मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगाने की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी, समाज-सत्य की रूढ़ियों का व्यक्ति-सत्य के आधार पर मूल्यांकन होने लगा था। प्रेमचन्द के युग में समाज-सत्य शिथिल होने लगा था और उत्तर-प्रेमचन्द-काल में इसका विघटन होने लगा था। प्रेम तथा विवाह सम्बन्धी धारणाओं में आमूल परिवर्तन आने लगे थे; व्यक्ति-सत्य अथवा आत्म-सत्य से प्रभावित विचारों को पुष्टि मिलने लगी थी। इसकी अभिव्यक्ति 'सितारों के खेल' में उपलब्ध होती है।

इसमें घटनाओं का संयोजन तथा पात्रों का चयन व्यक्ति-मूलक जीवन-दृष्टि से रूपायित है। उपन्यास का कथानक उसकी नायिका के चारों ओर इस उद्देश्य से संगठित किया गया है कि प्रेम के व्यक्ति-मूलक स्वरूप का प्रतिपादन हो सके और उसके सफल होने के पथ में नियति को बाधा के रूप में उपस्थित किया जा सके। नियति को इस रूप में चित्रित करने के लिए आकस्मिक एवं अस्वाभाविक घटनाओं की अवतारणा प्रायः अपेक्षित हो जाती है। इस कारण पात्रों का चरित्र-चित्रण भी घटनाओं के भार से दबकर रह जाता है और उनकी रेखाएँ ही उभर सकती हैं। इस प्रकार उपन्यास का शिल्प-विधान घटना-प्रधान हो अथवा चरित्र-प्रधान, यथार्थवादी हो अथवा प्रकृतवादी, आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हो अथवा यथार्थोन्मुख आदर्शवादी, उसको प्रेरित तथा रूपायित करने वाली लेखक की जीवन-दृष्टि होती है जो उसकी वस्तु तथा उसके शिल्प को एक विशिष्ट साँचे में ढालती है। अश्क की जीवन-दृष्टि व्यक्ति-चिन्तन अथवा व्यक्ति-सत्य के सूत्रों से अनुशासित है, जो उपन्यास के वस्तु एवं शिल्प को रूप तथा आकार देती है।

गिरती दीवारें

अश्क के दूसरे उपन्यास 'गिरती दीवारें' (१९४७) में भी व्यक्ति-वादी जीवन-दर्शन ही उपन्यास के उद्देश्य को प्रभावित करता है। इस उद्देश्य को उपन्यास के नायक के स्वरूप-विकास द्वारा अभिव्यक्ति मिली है। चेतन इस जीवन-दृष्टि का प्रतीक है। उसका व्यक्तित्व आर्थिक शोषण तथा सेक्स-सम्बन्धी कुण्ठाओं से ग्रस्त है और उसका विश्लेषण सभी आलोचकों ने इसी रूप में किया है। नलिनविलोचन शर्मा की दृष्टि में चेतन एक रीढ़-रहित, ढुलमुल-यकीन, कमज़ोर और अत्यन्त साधारण मनुष्य है। वह समाज की गिरती दीवारों के, टूटते और बदलते हुए ढाँचे का प्रतिनिधि न बनकर उसमें दुबका रहने वाला दयनीय जीव

है। वह चोटें खाता है, करता नहीं; वह खुद टूट जाता है, तोड़ कभी नहीं पाता।' नन्ददुलारे वाजपेयी भी इस मत से सहमत जान पड़ते हैं, जब वे चेतन के चरित्र का विवेचन इन शब्दों में करते हैं—'गिरती दीवारें का नायक एक अनिवार्य निर्णय नहीं ले पाता और गिरती दीवारें का कला-भवन सिद्धि का द्वार देखकर उसका स्पर्श किये बिना ही ढह जाता है। केवल यही नहीं कि वह निर्णय नहीं ले पाता, किन्तु सत्य तो यह है कि अश्क के जगत में जगनेवाला मनुष्य निर्णय लेने में मूलतः अशक्त है।' डॉ० बचनसिंह भी नायक के इस पक्ष को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि 'चेतन अपने व्यक्तित्व को स्वयं में एक बड़ी चीज़ मानता है, परन्तु वास्तविक जीवन में आचरण इसके विपरीत करता है। वह निम्न-मध्यवर्गीय समाज का असहाय प्रतीक है और घुट-घुट कर मरना जानता है। वह अपनी विवशता में सिसकता हुआ सारी सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त करने का संकेत अवश्य करता है, परन्तु अपने संस्कारों में जकड़े रहने के कारण उसे बदलने में सक्रिय योग नहीं दे सकता।' इस प्रकार चेतन के व्यक्तित्व का विश्लेषण लगभग एक ही शब्दावली में किया गया है। आलोचकों को यह शिकायत है कि चेतन महत्वाकांक्षी होता हुआ असहाय जीव क्यों है, वह अपने स्वभाव के विपरीत जीवन-यापन क्यों नहीं करता, उसका हृदय काव्यमय और जीवन गद्यमय क्यों है, वह परिस्थितियों पर विजय पाने की क्षमता से वंचित क्यों है ? इस तरह की आलोचना चेतन के मनोवैज्ञानिक गठन की अवहेलना करती है, उसके व्यक्तित्व की सीमाओं की उपेक्षा करती है। एक अभावग्रस्त व्यक्ति के महत्वाकांक्षी होने पर आपत्ति करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संगत नहीं जान पड़ता। वास्तव में नायक के स्वरूप के सम्बन्ध में परम्परा आदर्शवादी रही है और चेतन के व्यक्तित्व में इस परम्परागत आदर्शवादिता का अभाव है। इसलिए वह सूरदास क्यों नहीं है, प्रेमशंकर क्यों नहीं है अथवा वह होरी भी क्यों नहीं है—

इसका उत्तर अश्क की जीवन-दृष्टि तथा युग की परिस्थितियों में खोजा जा सकता है। अश्क इस प्रकार की आलोचना से अभिभूत होकर स्वीकार करते हैं कि वे चेतन के व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष चित्रित नहीं कर सके, उसके दृढ़ रूप को अंकित नहीं कर सके, जिसे उपन्यास के आगामी भागों में करना चाहते थे। इस स्वीकृति में रचनाकार तथा उसकी रचना के व्यक्तित्व में कितनी समानता है!

चेतन के व्यक्तित्व में उपन्यास का मूल उद्देश्य व्यंजित हुआ है। उसके चरित्र की अनेक परतें हैं और इन परतों की तुलना समाज की दीवारों से की गयी है, जिनसे अनेक बार टकराकर वह घायल होता है। उसे अनेक बार विपरीत परिस्थितियों से जीने के लिए समझौता करना पड़ता है। जीवन की विषमताओं ने उसके व्यक्तित्व को कुण्ठित एवं खंडित कर दिया है। 'सितारों के खेल' में जो काम नियति ने किया है, वही 'गिरती दीवारें' में सामाजिक रूढ़ियाँ तथा बाधाएँ करती हैं। उपन्यास का नायक समस्त सामाजिक विधान को व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि से आँकता है और इस परिणाम पर पहुँचता है कि इस विधान को तोड़ देने में व्यक्ति का हित है। इसमें उसका दम घुटता है, उसका विकास होने नहीं पाता। इस व्यक्ति-चिन्तन के परिणामस्वरूप वह सामाजिक मान्यताओं का विरोध करता है, परन्तु यह विरोध निष्क्रिय होने के कारण कुण्ठाओं को ही जन्म देने में सहायक होता है। अश्क इस उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'मैं इस उपन्यास के माध्यम से निम्न-मध्यवर्ग के वैवाहिक जीवन, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं, महत्वाकांक्षाओं, कुण्ठाओं, विडम्बनाओं, सद्वृत्तियों, कुवृत्तियों, ग्रन्थियों और विकृतियों का चित्रण करना चाहता था। वे उपन्यास में प्रेम की उस स्थिति को भी उभारना चाहते थे 'जहाँ प्रेम के स्थान पर घृणा ही होती है, परन्तु सहचरी में कुछ गुण घृणा को प्रेम के एक ऐसे स्थायीभाव में बदल देते हैं, जो अस्थियों

में रच जाता है और जीवन के साथ ही जाता है।' इस प्रकार लेखक प्रेम के गुणात्मक एवं आन्तरिक स्वरूप को महत्व देकर अपनी व्यक्ति-मूलक जीवन-दृष्टि को ही लक्षित करते हैं। प्रेम के व्यक्तिगत पक्ष का प्रतिपादन और सामाजिक विधान का वैयक्तिक मूल्यों के आधार पर आलोचन उपन्यास के मूल स्वर हैं। चेतन वास्तव में 'सितारों के खेल' के बंसीलाल का रूपान्तर है, जो नियति के विधान का शिकार न होकर सामाजिक बन्धनों का शिकार है। इन दोनों नायकों के स्वरूप में अंतर मूलतः परिस्थितियों का है। चेतन एक नारी के स्थान पर अनेक नारियों पर मुग्ध होने वाला व्यक्ति है, वह बंसीलाल की भाँति अति भावुक न होकर चिन्तक है। जीवन-वास्तव के निकट आने के कारण बंसीलाल ने चेतन का रूप धारण कर लिया है। इस सम्बन्ध में अश्क का स्पष्ट वक्तव्य है—'इस नयी दृष्टि से देखने पर मुझे लगा कि मानव तो गुण-दोषों से बना है, जीवन तो कूड़े-करकट, धुएँ-धुंध, गर्द-ग़ुबार, कीचड़ और दलदल से अटा पड़ा है। मानव इतना सरल नहीं कि वह देवता हो, वह पासे का सोना नहीं, अष्टधातु का मिश्रण है। इस प्रकार जीवन की कड़ी अनुभूतियों ने लेखक को 'अष्टधातु के मिश्रण' को चित्रित करने के लिए प्रेरणा दी। उनका मोह-भंग हो चुका था। बंसीलाल का काल्पनिक आदर्श चेतन के यथार्थ के सम्मुख पीला पड़ चुका था। इन चरित्रों के गठन में अंतर के होते हुए भी इनकी मूल जीवन-दृष्टि में अंतर का अभाव पाया जाता है। बंसीलाल पासे का सोना और चेतन अष्टधातु का मिश्रण हो सकते हैं, इनकी जीवन-परिस्थितियों में विभिन्नता हो सकती है, इनके शारीरिक गठन में भेद हो सकता है, परन्तु जीवन तथा समाज के प्रति इनके दृष्टिकोणों में समानता ही उपलब्ध होती है, जिससे लेखक की उपन्यास-कला का मूल उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है।

अश्क ने चेतन के चरित्रांकन द्वारा दो मूल समस्याओं को उठाया

है—आर्थिक विषमता और सेक्स सम्बन्धी कुण्ठा, जिनसे एक निम्न-मध्यवर्ग का व्यक्ति जूझता है और अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए संघर्ष करता है। उसके परिवार में विषाक्त और समाज में कठोर वातावरण छाया हुआ है। वह साहित्यकार बनने के सपने लेता है, परन्तु जीवन में विषम परिस्थितियाँ उसे स्कूल-मास्टर बनने और समाचार-पत्र में साधारण नौकरी करने के लिए बाधित करती हैं। विषम परिस्थितियों से जूझने के फलस्वरूप चेतन की महत्वाकांक्षाएँ ध्वस्त होने लगती हैं, उसकी सेक्स-चेतना भी उभर-उभर कर कुण्ठित होती रहती है। यौवन के उल्लास में उसका सहज स्नेह कुन्ती से हो जाता है, किन्तु उसके पिता उसका विवाह चन्दा से निश्चित करते हैं। इस स्थिति से पलायन करने के लिए वह जालंधर से लाहौर पहुँच जाता है, जहाँ वह गन्दी गलियों की सड़ाँध को भुलाने के लिए प्रकाशो और केसर नाम की दो लड़कियों के सम्पर्क में आता है, जो उसके नीरस जीवन में उथल-पुथल ला देती हैं। इस स्थिति में वह चन्दा से विवाह कर लेना ही उचित समझता है। परन्तु विवाह के उपरान्त चन्दा की चचेरी बहन नीला, जिसे वह पहले देख चुका है, उसके हृदय को मुग्ध कर लेती है। चेतन और नीला के बीच एक छोटी-सी भूल के कारण एक बड़ी दीवार खड़ी हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप नीला का विवाह रंगून में काम करने वाले एक अधेड़ एवं कुरूप व्यक्ति से सम्पन्न होता है। उसके विवाह में चेतन सम्मिलित होता है, परन्तु अब भी उसे देख कर उसका हृदय तरंगित हो उठता है—'उसकी उदास मुस्कान, उसकी उन्मन दृष्टि, उसके पीले मुख, उसके शरीर के एक-एक अंग को उसी शिद्दत से चाहता है जिस शिद्दत से उसे उसने उस दिन चाहा था जब वह अपनी भावी पत्नी को देखने आया था। बुद्धि, धर्म, नैतिकता, समाज, विवाह—ये सब दीवारें जो यथार्थ में उसकी

चाहना को घेरे थीं, कल्पना में गिर गयी थीं और उसके प्रेम की लौ, जिसे फ़ानूस की बिल्लौरी दीवार ने धुँधला कर रखा था, उसके टूट जाने पर स्पष्ट ही चमक उठी थी।' इन शब्दों में लेखक ने चेतन की मानसिक स्थिति का विश्लेषण किया है, जिससे नायक तथा उसके द्वारा लेखक का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। चेतन में जिन सामाजिक बन्धनों को तोड़ने का साहस नहीं है, वे उसके काल्पनिक संसार में स्वयं ढह जाते हैं। वह वास्तविक जगत में विवश होते हुए भी कल्पना-लोक में अपने सहज दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। उसकी निजता का आभास उसके आचारण में नहीं चिन्तन में उपलब्ध होता है। इस कारण आलोचकों ने चेतन को कायर कहा है, दयनीय प्राणी की संज्ञा दी है। अश्क चेतन की कायरता के प्रति सजग हैं और इसके निराकरण के लिए अपना मन्तव्य इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—'मैं चन्दा की कहानी कहना चाहता था, जिसकी झलक-मात्र उपन्यास के इस वर्तमान रूप में दिखा पाया। चन्दा के बदले यह नीला और चेतन की कहानी बन गया। यही नहीं उपन्यास क्योंकि बहुत बड़ी परिधि घेरने वाला था, इसलिए उसमें केवल नीला और चेतन की कहानी ही नहीं रही, चेतन का पूरा वातावरण, उसके माता-पिता, भाई और भाभी के चरित्र-चित्रण के साथ आया है।' इस वक्तव्य में उपन्यास के भावी विकास की रूप-रेखा है, जिसका उसके वास्तविक रूप से निकट का सम्बन्ध नहीं है। लेखक ने 'गिरती दीवारें' के बृहत् संस्करण की प्रेरणा रोम्याँ रोलाँ के 'ज्याँ क्रिस्तोव' से प्राप्त की थी। उनका उद्देश्य चन्दा के उदात्त चरित्र को उभारना था जो शरीर से असुन्दर और आत्मा से सुन्दर थी। उपन्यास के वर्तमान रूप में चेतन तथा नीला का सम्बन्ध उसका केन्द्र-बिन्दु है और इससे लेखक का व्यक्तिमूलक दृष्टिकोण झलकता है। यदि अनुतापवश अश्क चन्दा के चरित्र को, उसकी आत्मिक सुषमा को

उपन्यास के आगामी भागों में निखारने का प्रयास भी करते तो सम्भव है उसमें भी उनकी व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि का आभास मिलता। इस प्रकार की सम्भावनाओं के लोक में भटकने से वस्तुस्थिति के उपेक्षित हो जाने का भय है और वस्तुस्थिति चेतन तथा नीला के सम्बन्ध की है, चेतन के परिवेश की है। चेतन बंसीलाल की तरह मूक नहीं है, वह वाचाल है। उसका व्यक्तित्व जीवन की अनुभूतियों से सम्पन्न एवं विपन्न बना है। वह अभावों को जानता है, सामाजिक बन्धनों को पहचानता है और उनके टूटने की कल्पना भी करता है। संकोच, संशय, हीनता उसके चरित्र के लक्षण हैं। वह छुक-छिप कर कुन्ती, प्रकाशो, केसर, नीला, मन्नी के शारीरिक स्पर्श से ही रोमांचित हो उठता है। उसका क्षोभ कुढ़न में ही परिणत होकर रह जाता है। अपने पिता शादीराम, उनके मित्र देसराज, कविराज रामदास आदि के प्रति चेतन का क्रोध नपुंसक है। एक महत्वाकांक्षी तथा शिखण्डी किस प्रकार घुटन, निराशा, चिन्ता, हीनता आदि से ग्रस्त होकर जीने की कामना से चिपका एवं लिपटा हुआ है, इसका सजीव चित्रण अश्क ने चेतन के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इस रूप में वह निम्न-मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों का प्रतिनिधि बनकर आता है। उपन्यास में चरित्र-चित्रण की शैली के सम्बन्ध में लेखक का मन्तव्य है कि उन्होंने तटस्थ दृष्टि से काम लिया है। चेतन के अशिष्ट आचरण को व्यभिचार के रूप में भी आँका गया है। अपने विवाह के उपरान्त नीला से उसका प्रेम-सम्बन्ध, रेलगाड़ी में यादराम की पत्नी से छेड़-छाड़, नल पर जल भरनेवाली प्रकाशो से उसका व्यवहार सामाजिक दृष्टि से निषिद्ध है। इस आचरण को अनमेल विवाह से उत्पन्न कुण्ठा का परिणाम भी कहा गया है। इस प्रकार चेतन के चरित्र का विवेचन व्यक्ति-हित एवं समष्टि-मंगल की परस्पर-विरोधी दृष्टियों से किया गया है।

इस उपन्यास के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया गया है कि अन्ततः इसका लक्ष्य क्या है ? नन्ददुलारे वाजपेयी उपन्यास में जीवन-चित्रण को सजीव मानते हुए पूछते हैं—'विभिन्न चित्र सापेक्ष हैं या निरपेक्ष ही बनकर रह जाते हैं ?' उनकी धारणा है कि यह रचना 'यथार्थ के लिए यथार्थ' का आभास देने लगती है। इसलिए वे अश्क को आंशिक रूप में ज़ोला के परिवार का यथार्थवादी उपन्यासकार मानते हैं। आलोचकों ने ज़ोला को प्रकृतवादी उपन्यासकार की संज्ञा दी है और इस जाति का कथाकार यथातथ्यवाद में निष्ठित होने के कारण परिस्थिति को नियामक रूप में और मनुष्य को परिस्थिति के दास के रूप में चित्रित करता है। वाजपेयी जी की दृष्टि में चेतन मनुष्य न होकर पुतला मात्र है, परिस्थितियों का दास है। चेतन-जैसे नायक की सृष्टि प्रेरणा देने में असमर्थ है, इसलिए उपन्यासकार को यह शोभा नहीं देती। इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि वाजपेयी जी उपन्यास के नायक को महाकाव्य के नायक के गुणों से युक्त देखना चाहते हैं, उसमें जीवन के महान आदर्शों को प्रतिष्ठित करने के पक्ष में हैं। वाजपेयी जी इस तथ्य की उपेक्षा कर जाते हैं कि महाकाव्य का नायक एक विशिष्ट युग एवं संस्कृति की उपज था और परिस्थितियों के बदलने के कारण आज उसकी सृष्टि की कामना करना विपरीत धारा के साथ बहने के समान है। 'रंगभूमि' का सूरदास भी मोह-भंग के परिणाम-स्वरूप 'गोदान' के होरी में परिणत हो चुका था और इसके बाद चेतन का सृजन हुआ है। प्रेमचन्द भी समाज-मंगल की भावना से प्रेरित आश्रमों की स्थापना से विमुख हो चुके थे। इसलिए अश्क से 'एपिक-नायक' की सृष्टि की आशा करना अपनी अतिरिक्त आदर्शवादिता का ही परिचय देने के समान है। वाजपेयी जी का दूसरा प्रश्न उपन्यास में अंकित चित्रों से सम्बन्ध रखता है। उनकी युक्ति इस प्रकार है—'यदि चित्र निरपेक्ष हैं तो चेतन के क्षोभ का क्या महत्व है, सामाजिक

परिवेश के प्रति उसकी घृणा का क्या अर्थ है ?' इसमें संदेह नहीं हो सकता कि चेतन समाज के खोखले आदर्शों, जीवन की थोथी मान्यताओं से घृणा करता है और वह प्रेमशंकर की भाँति इस समाज को बदलने के लिए सक्रिय भाग नहीं लेता। वह आदर्शों तथा आदर्शवादियों का पुजारी न बनकर अपना जीवन जीना चाहता है। उससे वंचित होकर वह छटपटाता है, भटकता है, कराहता है और विवशता की स्थिति में सब पर कटु व्यंग्य कसता है। चेतन के व्यंग्य गहरे आघात पहुँचाते हों या मन्द हँसी उत्पन्न करके रह जाने वाले हों, परन्तु इनमें उसका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण निरन्तर झलकता है। वह जीवन में उन दीवारों की कल्पना करता है जिनका अंत नहीं है। इन दीवारों की नींवें कहाँ हैं ? ये कब गिरेंगी और कैसे गिरेंगी ? इनका उत्तर उसकी क्षमता से बाहर है। वह इतना अवश्य जानता है कि इनके गिरने से व्यक्ति का विकास सम्भव हो सकता है। इनको ध्वस्त करने के लिए उसके पास शक्ति नहीं है। अश्क का मन्तव्य है कि इन दीवारों का टूटना मन्द तथा निःस्वन रूप में होता है। इन संस्कारगत एवं समाजगत दीवारों की जाँच व्यक्ति-हित की कसौटी पर की गयी है। अश्क चेतन के जीवन की तुलना उस सरोवर से करते हैं, जिसका जल सड़ रहा है। वे इस सड़ाँध के घिनौने रूप से आँख मूँदने के पक्ष में नहीं हैं। इसकी अनुभूति को वे व्यक्ति-विकास के लिए अपेक्षित समझते हैं। जालंधर की बस्ती ग़ज़ां, लाहौर का चंगड़ मुहल्ला तथा रुल्दू-भट्टा, इन बस्तियों तथा मुहल्लों में गाली-गलौज, पाखण्ड, व्यभिचार, भ्रष्टाचार आदि चेतन के संवेदनशील मानस पर गहरा आघात करते हैं। साधारण जीवन की साधारण घटनाओं के तन्तुओं से बुना गया उपन्यास न तो खादी की आदर्शवादिता तथा पावनता से युक्त है और न ही इसमें रेशमी वस्त्र की सुकुमारता तथा कोमलता है। इसमें तो कोरे लट्ठे की गंध तथा मैल है

अश्क वैयक्तिक समस्याओं को न तो सामाजिक परिवेश से अलगाते हैं और न ही वे प्रेमचन्द की भाँति इनको एक-दूसरे में गुम्फित ही करते हैं। प्रेमचन्द में सुधारक का रूप सशक्त है। उन्होंने सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लिया था। अश्क जीवन के निरीक्षक-मात्र हैं। उनका व्यक्ति-चिन्तन मानव-चित्रण की अपेक्षा व्यक्ति विशेष के चित्रण में अधिक व्यस्त है। वे पेड़ों की अपेक्षा पेड़-विशेष की शाखाओं एवं पत्तियों के विश्लेषण में ही आसन लगा लेते हैं। इसके फलस्वरूप उपन्यास का वस्तु-पक्ष एवं शिल्प-पक्ष एक विशिष्ट साँचे में ढलने लगता है। छोटी छोटी घटनाओं, साधारण भावों तथा विचारों, लघु से लघुतर समस्याओं का जमघट इस प्रवृत्ति का परिणाम है। जीवन की रिक्तता पर व्यंग्य कसना और उसकी लघुता को गौरवान्वित करना भी इसी दृष्टि का प्रतिफल है। इस प्रकार उपन्यासकार की जीवन-दृष्टि रचना के वस्तु एवं शिल्प को रूपायित कर परिस्थिति तथा चरित्र को एक-दूसरे में गुम्फित करने में सहायक होती है। परिवेश व्यक्ति के जीवन को रूपांतरित करता है और व्यक्ति का जीवन परिवेश में समाविष्ट हो जाता है और दोनों की अभिव्यक्ति उपन्यास में होती है। अश्क अपने व्यक्तिमूलक दृष्टिकोण के कारण 'गिरती दीवारें' में पात्रों के जीवन के वैयक्तिक पक्ष का चित्रण एवं निरूपण करने के लिए बाधित हैं। उपन्यास में व्यक्त सामाजिक पक्ष का भी व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि के आधार पर मूल्यांकन हुआ है। उपन्यास का उद्देश्य भी अन्ततोगत्वा लेखक की इस मूलभूत दृष्टि से अनुशासित है।

गर्म राख

अश्क का तीसरा उपन्यास 'गर्म राख', (१९५२) जिस में आर्थिक तथा नैतिक स्तर पर उखड़े हुए निम्न-मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण उपलब्ध होता है, अन्ततः व्यक्ति-चिन्तन की विचारधारा अथवा जीवन-

दृष्टि से प्रभावित है। इसका मूल्यांकन भी 'गिरती दीवारें' की भाँति आलोचनात्मक वादों के आधार पर किया गया है। इसलिए उपन्यास के विवेचन में परस्पर-विरोधी मतों का घोषित होना स्वाभाविक है। शिवदान सिंह चौहान, जिन्होंने 'गिरती दीवारें' को यथार्थवादी उपन्यास घोषित किया था, 'गर्म राख' को प्रकृतवादी उपन्यास की संज्ञा देते हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त इसी उपन्यास को यथार्थवादी रचनाओं की कोटि में रखते हैं। राजेन्द्र यादव 'गर्म राख' को पूर्णतया प्रकृतवादी उपन्यास नहीं मानते। उनकी दृष्टि में इसका झुकाव यथार्थवाद की ओर है। इसलिए वे एक मध्यमार्ग खोज निकालते हैं। अश्क की 'एप्रोच' को यथार्थवादी और वर्णन-शैली को प्रकृतवादी मानकर अपने 'समन्वयशील' दृष्टिकोण का परिचय देते है। अमृत लाल नागर इस उपन्यास के लिए 'आशावादी प्रगतिशील' नाम की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार इस उपन्यास का मूल्यांकन विभिन्न दृष्टियों से हुआ है और इस के मूल्यांकन में इतना मतभेद पाया जाता है। अश्क स्वयं 'गर्म राख' को 'समस्या-प्रधान' उपन्यास की संज्ञा देते हैं और इसके प्रेरणा-स्रोत को राजा भर्तृहरि के प्रेम, निराशा और वैराग्य की प्रसिद्ध कथा से सम्बद्ध करते हैं। यह कथा लेखक के मानस को सदैव कोंचती रही है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है—'जब मैं बड़ा हुआ तो कभी-कभी मैं सोचा करता था कि इतनी बड़ी प्रजा के लिए हित-अहित की चिन्ता रखने वाला राजा अपनी व्यक्तिगत निराशा के क्षण में कैसे उसको भूल कर जीवन से पलायन कर गया। जीवन में मुझे बार-बार प्रेम की असफलता में आत्महत्या कर लेने वाले अथवा उसकी प्रतिक्रिया में अनचाहे संग निभाने वाले लोग मिले हैं। उनकी गाथाएँ भी मैंने पढ़ी हैं और मेरा मन सदा उस पलायन से विद्रोह करता रहा है। सत्या-जैसी लड़कियाँ हमारे निम्न-मध्यवर्गीय समाज में बीसियों मिल जायँगी। इसलिए मैंने इकतरफ़ा प्रेम और उसकी निराशा को लेकर यह

उपन्यास लिखा।' इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि अश्क ने 'गर्म-राख' की रचना के लिए निष्फल प्रेम की समस्या को आधार बनाया है और इसकी अभिव्यक्ति के लिए यह भी निश्चय किया है कि वे जीवन से पलायन का गीत नहीं गायेंगे। अब वे एक ही प्रेम के लिए जीवन भर पागल रहनेवालों की गाथा नहीं लिखना चाहते। इसकी गाथा वे 'सितारों के खेल' में बंसीलाल के माध्यम से सुना चुके हैं। अब वे इस धारणा के प्रति विद्रोह करते हैं और आत्महत्या को जीवन का अपमान समझते हैं। वे प्रेम की अनुभूति के जितने रूपों की कल्पना कर सकते हैं, उन सब का चित्रण करने का प्रयास 'गर्म राख' में करते हैं। अब वे जीवन को प्रेम से बड़ा समझते हैं। अपने मन्तव्य का स्पष्टीकरण वे इन शब्दों में करते हैं—'प्रेम में मेरा विश्वास है, लेकिन ज़िन्दगी में मेरा विश्वास उससे ज़्यादा है। प्रेम यदि ज़िन्दगी को बेहतर तौर पर जीने में मदद नहीं देता तो मैं उसे आदमी की शक्ति का अपमान समझता हूँ।' इस कारण अश्क को इस उपन्यास के नायक जगमोहन का सेक्स-सम्बन्धी कुण्ठाओं से ग्रस्त होना अभीष्ट नहीं है। कवि चातक के चरित्र को व्यंग्यात्मक रूप में अंकित करने का मूल कारण भी यही है। वे भारतीय युवती को सत्या की भाँति प्रेम की असफलता से निराश भी नहीं देखना चाहते। उनकी दृष्टि में फ़ैज़ की पंक्ति —'और भी ग़म हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा'—जीवन का नया संदेश देती है और इसमें उपन्यास का उद्देश्य ध्वनित होता है। अश्क की जीवन-दृष्टि प्रेम की अति भावुकता से मुक्ति पाना चाहती है और व्यक्ति के जीने के लिए एक नये पथ को प्रशस्त करना चाहती है।

अश्क के इस मन्तव्य तथा गन्तव्य से अवगत होने के उपरान्त उनकी उस मूल जीवन-दृष्टि को समझना अपेक्षित है, जो इस उपन्यास के उद्देश्य, घटनाओं के संयोजन तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण को प्रेरित करती है। इसके आधार पर उपन्यास के वस्तु एवं शिल्प पक्ष

का उचित विवेचन तथा समस्याओं का सही विश्लेषण हो सकता है। इस उपन्यास का नायक जगमोहन है, जिसके माध्यम से लेखक ने निम्न-मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं को उठाया है तथा व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि से उनका विश्लेषण किया है। जगमोहन के संघर्षमय जीवन, संकोचशील स्वभाव तथा कातर मन से अनुमान लगाया जा सकता है कि वह चेतन के कुल का सदस्य है। उसमें बंसीलाल की अति भावुकता तो मर चुकी है, चेतन की संवेदनशीलता भी कुण्ठित हो चुकी है; परन्तु उनकी व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि उसके जीवन की गतिविधि को भी संचालित करती है। वह जीवन और उसके परिवेश को व्यक्ति-चिन्तन की कसौटी पर परखता है और व्यक्ति-सत्य में विश्वास रखता है। जगमोहन सत्या के प्रेम में उलझ कर उससे मुक्ति अवश्य पा लेता है, परन्तु इसके लिए आर्थिक कठिनाई के कारण को गढ़ना बहाना-मात्र है। सत्या जगमोहन में अनुरक्त है, परन्तु जगमोहन दुरो के प्रति आसक्त है और दुरो हरीश से प्रेम करती है। उपन्यास में हरीश तथा दुरो को समाजवादी आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यक्तियों के रूप में अंकित किया गया है। जगमोहन दुरो के सम्बन्ध में इस प्रकार सोचता है—'कल यदि दुरो उससे विवाह का प्रस्ताव करे तो क्या वह आर्थिक कठिनाई का बहाना बनाये। दिशाओं के बन्धन तोड़कर हरहराने वाले तूफ़ान-सा वह उठे और आर्थिक कठिनाइयों के तृण-पात को अपने साथ उड़ाता ले जाय।' सत्या को पाने के लिए वह 'तृण-पात' को उड़ाने के लिए भी तैयार नहीं है। जगमोहन की इस सस्वर घोषणा में कितनी वास्तविकता अथवा विडम्बना है—यह दूसरा प्रश्न है, परन्तु इसमें निम्न-मध्यवर्गीय समाज के एक कातर एवं भीरु युवक की महत्वाकांक्षा अवश्य ध्वनित होती है। जगमोहन वास्तव में चेतन का ही रूपांतर है, जिसकी सेक्स सम्बन्धी भावना अभी अतृप्त एवं कुण्ठित है। उसने अब प्रगतिशील विचारों

का कवच पहन लिया है, जिसकी आड़ में वह दुरो के प्रेम को पाना चाहता है। जिस प्रकार कवि चातक नारी को पाने के लिए उसे अपने काव्य की प्रेरणा घोषित करते हैं, उसी प्रकार जगमोहन दुरो को प्राप्त करने के लिए स्वयं को प्रगतिशील व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है। उसकी प्रगतिशील चेतना उसकी भीरुता, कातरता, तथा व्यक्ति-वादिता पर आवरण डालने के समान है। इस चरित्र को संचालित करने वाली जीवन-दृष्टि व्यक्ति-चिन्तन की है, जो युग-चेतना के अनुरूप नये वस्त्र धारण करती है। इस उपन्यास का मूल्यांकन करते हुए डॉ०सुषमा धवन ने अपने शोध-प्रबन्ध, 'हिन्दी-उपन्यास : प्रवृत्तियाँ तथा प्रभाव' में लिखा है—'मध्यवर्ग का व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन परास्त होकर अवसरवादी रूप धारण कर लेता है; उसका आदर्शवादी दृष्टिकोण यथार्थ के धरातल पर उपयोगितावाद में परिणत हो जाता है; उसके प्रेम का रोमांटिक स्वरूप वासनामय बन जाता है।' जगमोहन तथा सत्या के पारस्परिक सम्बन्ध का विकास तथा ह्रास मध्यवर्ग की उन मानसिक उलझनों तथा नैतिक मान्यताओं को अभिव्यक्ति देते हैं, जिनसे शासित होकर भारतीय युवक तथा युवती की इच्छाएँ कुण्ठित एवं दमित होती हैं। जगमोहन सत्या को नारी के रूप में पराजित कर, उससे उदासीन हो जाता है, सामाजिक बन्धनों से भय खाकर अपनी भीरुता पर आवरण डालता है और आवरण डालने के लिए फ़ैज़ की पंक्तियों का आश्रय लेता है :

और भी ग़म हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा।
राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा॥

जगमोहन अश्क के अन्य उपन्यास-नायकों की तरह प्रतिकूल तथा विषम परिस्थितियों में पालित एवं पोषित युवक है। उसके संस्कार वही हैं तथा उसकी जीवन-दृष्टि वही है। आकांक्षाएँ महत् तथा साधन स्वल्प होने के कारण उसका विकास अवरुद्ध है। वह प्रेम के

नैसर्गिक सम्बन्ध को भीरु छिपकली के व्यवहार के रूप में आँकता है :

छिपकली-सी यह मुहब्बत—
आज के युग की लजीली,
भीरु,
अपने नाम ही के सहम से जो सिमट जाये,
तिमिर से आच्छन्न कोनों और अँतरों से
सरक कर झाँकती है।

और समाज के उस विधान पर व्यंग्य कसता है, जिसमें प्रेम का विकास नहीं हो पाता। वह एक ओर पेट की भूख को मानव की पहली भूख मानने लगता है और दूसरी ओर अतृप्त प्रेम के भाव से आक्रान्त है। इस प्रकार प्रेम को क्रम में दूसरा स्थान देने पर भी वह सत्या के प्रेम को पूरी तरह विस्मरण नहीं कर पाता। उपन्यास में प्रेम की स्थिति को उसके विभिन्न रूपों में निरूपित किया गया है। एक प्रेम कवि चातक का है, जो हर नारी को पाने के लिए उसे अपने काव्य की प्रेरणा के रूप में घोषित करता है और रावण को आदर्श प्रेमी के रूप में प्रस्तुत करता है। उसकी दृष्टि में राम का प्रेम सामाजिक मर्यादा का प्रतीक है और रावण का सामाजिक बन्धनों से मुक्ति का! वह उमरखैय्याम के प्रेम-सम्बन्धी दृष्टिकोण का भी समर्थन करता है, जिसका स्वरूप एकांन्तिक एवं व्यक्तिमूलक है। शुक्ला जी का प्रेम भी लगभग चातक जी की कोटि का है, जो हर युवती को देखकर उमड़ने लगता है। दूसरा प्रेम जगमोहन और सत्या का है, जो छिपकली-सा प्रेम है। तीसरा प्रेम पंडित दाताराम का है, जो सत्या के प्रति वासनामय है। चौथा प्रेम हरीश और दुरो का है, जो प्लेटॉनिक एवं आदर्शमूलक है। पाँचवाँ प्रेम वसन्त और सरला के मध्य है, जिसका स्वरूप मानवीय एवं व्यावहारिक है और जिसे शायद प्रेम की संज्ञा देना कठिन है। इस प्रकार 'गर्म राख' में प्रेम के विविध पक्षों का

विवेचन हुआ है, जिसके मूल में व्यक्ति-चिन्तन तथा व्यक्ति-हित की दृष्टि है। हरीश तथा दुरो के प्रेम को स्वस्थ प्रेम की संज्ञा से अभिहित किया गया है, परन्तु उसका रोमांटिक तथा आदर्शमूलक पक्ष व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि का ही परिणाम है। इस तरह प्रेम की समस्या के उद्‌घाटन तथा प्रतिपादन में मूलभूत दृष्टि व्यक्तिमूलक है। उपन्यास 'स्वस्थ प्रेम' को उभारने में इतना सफल नहीं हो पाया है, जितना 'कुण्ठित प्रेम' के चित्रण में सजीव हो उठा है। इस कुण्ठित प्रेम का मूल कारण सामाजिक विधान है, जिसकी कड़ी आलोचना व्यक्ति-हित के आधार पर उपन्यास में उपलब्ध होती है। जगमोहन, सत्या, कवि चातक, शुक्लाजी, धर्मदेव वेदालंकार आदि पात्रों की अवतारणा के मूल में भी लेखक की व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि है। उपन्यास में दो सामाजिक संस्थाओं की स्थापना द्वारा पुरातन रूढ़ियों तथा बद्धमूल मान्यताओं का विरोध किया गया है। 'संस्कृति समाज' तथा 'स्टडी सरकल' के माध्यम से उपन्यास के पात्र अपने नवीन विचारों को व्यक्त करते हैं। 'संस्कृति समाज' के सदस्यों की जीवन-दृष्टि तो स्पष्टतः व्यक्ति-चिन्तन एवं व्यक्ति-विकास के उद्देश्य से प्रेरित है, दुरो तथा हरीश भी कवि पन्त की भाँति बौद्धिक स्तर पर ही प्रगतिशील हैं, परन्तु उनका हृदय व्यक्ति-चिन्तन के संस्कारों से मुक्त नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार उपन्यास के समस्त वातावरण में लेखक की व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि व्याप्त है, जो घटनाओं के संयोजन, दृश्यों के चित्रण, समस्याओं के प्रतिपादन आदि को प्रेरित करती है। उपन्यास में व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्ध का मूल्यांकन भी इस धरातल पर ही किया गया है। इसमें प्रगतिशील पक्ष की अभिव्यक्ति का उद्देश्य भी उन सामन्ती रूढ़ियों का विरोध करने में लक्षित होता है जो व्यक्ति-विकास को अवरुद्ध करती हैं। इस प्रकार अश्क के इस उपन्यास का उद्देश्य भी मूलतः व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि से प्रभावित है, जो इसके वस्तु एवं शिल्प

पक्ष को रूपायित करता है।

बड़ी-बड़ी आँखें

अश्क का चौथा उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' (१९५५) इसी जीवन-दृष्टि से अनुप्राणित है। लेखक ने उपन्यास के नायक संगीत के माध्यम से देवनगर के सामाजिक विधान तथा उसके संचालकों के खोखले आदर्शों की कड़ी आलोचना की है। देवनगर में सामूहिक एवं सहकारी जीवन का आदर्श संगीत की दृष्टि में विडम्बना-मात्र है। इस प्रकार उपन्यास के सामाजिक पक्ष का मूल्यांकन व्यक्ति-चिन्तन के आधार पर किया गया है। इसमें प्रेम के जिस स्वरूप का चित्रण हुआ है, वह भी रोमांटिक है और लेखक के शब्दों में 'उठाने वाला है, गिराने-वाला नहीं। यह प्रेम मन को वे आँखें देता है, जो अनजाने भेद जान लेती हैं और शरीर को वह शक्ति देता है कि आदमी अनजानी मुसीबतों से जूझ सकता है।' अश्क पहले भी प्रेम के विविध रूपों का बखान कर चुके हैं। इस उपन्यास में उन्होंने प्रेम के उदात्त स्वरूप का निरूपण किया है, जो अन्तर को आँखें देता है और उन आँखों में बड़े-बड़े सपने देखने की क्षमता विद्यमान है। प्रेम के उद्घाटन तथा प्रतिपादन में निस्सन्देह व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि है, जो संगीत के जीवन की गतिविधि को संचालित करती है। इस सम्बन्ध में उपन्यास-कार ने शिकायत की है कि आलोचकों ने प्रायः वाणी (नायिका) की बड़ी-बड़ी आँखें ही देखी हैं, संगीत के अन्तर की आँखों को वे नहीं देख पाये। इसलिए 'बड़ी-बड़ी आँखें' का मूल उद्देश्य उनकी आँखों से ओझल हो गया है। इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति के लिए देवनगर के परिवेश को माध्यम बनाया गया है। यह देवनगर एक सामाजिक संस्था है, जिसमें इसके देव सैनिक एक नवीन प्रयोग में संलग्न हैं, जिसका उद्देश्य सामूहिक परिश्रम तथा सामूहिक जीवन है। इस प्रकार का

प्रयोग अमृतसर के निकट एक कॉलोनी में हुआ है, जहाँ अश्क स्वयं रह चुके हैं। उपन्यास का मूलभूत विचार लेखक की निजी अनुभूति का परिणाम जान पड़ता है। वे इस विचार को उपन्यास के ताने-बाने में बुन सके हैं या नहीं यह दूसरा प्रश्न है। वे इसकी ओर संकेत करने से नहीं चूकते हैं—'देवनगर मुझे (उपन्यास के नायक संगीत को) उस देश-सा लगा जिसका प्रधानमन्त्री उदाराशय, स्वप्नशील, भविष्य-द्रष्टा हो, पर जिसके सहकारी अवसरवादी, चाटुकार और खुशामदी हों और जिसके दफ़्तरों में भ्रष्टाचार और स्वजन-पालन का दौर-दौरा हो।' इस कारण संगीत भविष्यवाणी करते हैं कि इस प्रधानमन्त्री के सारे आदर्श धरे ही रह जायँगे और यह देश रसातल को चला जायगा। इस वक्तव्य में देवनगर भारत का प्रतीक हो सकता है और देवा जी, जो देवनगर के प्रधान संचालक हैं, प्रधानमन्त्री के। लेकिन इन पंक्तियों में प्रधानमन्त्री का जो चित्र अंकित किया गया है वह उपन्यास में अंकित देवाजी के चित्र के अनुरूप नहीं है। वह प्रधान-मन्त्री की तरह उदाराशय नहीं है, उसकी आदर्शवादिता सहज न होकर कृत्रिम है। इन पंक्तियों को उपन्यास के अन्त में रखा गया जान पड़ता है और इसमें व्यक्त प्रतीकात्मकता सहज न होकर कृत्रिम होने का आभास देती है। इन प्रतीकात्मक पंक्तियों के आधार पर अश्क इस उपन्यास को सामाजिक की अपेक्षा 'राजनीतिक' अधिक समझते हैं। छविनाथ पाण्डेय ने कुछ-कुछ वैसा समझा है। उन्होंने लिखा है कि देवनगर कांग्रेस का प्रतीक है। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने देवनगर में होने वाले कार्य-व्यापार को एक तानाशाह के अधीन होनेवाले कार्य-व्यापारों का प्रतीक कहा है। सुमित्रानन्दन पन्त ने इसे गीति-उपन्यास की संज्ञा से विभूषित किया है। डॉ० देवराज उपाध्याय पन्त के नाम-करण से सहमत जान पड़ते हैं। वे इसकी 'लिरिकल' भाषा तथा रोमांटिक लक्ष्य की सिद्धि के आधार पर इसे गीति-उपन्यास मानते हैं।

इस प्रकार के नामकरण से उपन्यास का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता और इसका मूल्यांकन एकांगी रह जाता है।

इस लघु-उपन्यास का कथानक अत्यन्त ऋजु है। संगीत मध्यवित्त समाज का आदर्शवादी युवक है, जो अपने आदर्श के लिए जीवन के विकट पथ पर चलने को कटिबद्ध है। उपन्यास की नायिका वाणी आश्रम में निवास करने वाली शकुन्तला है, जो संगीत को आदर्श-पथ पर चलने के लिए प्रेरणा देती है। उपन्यास का परिवेश देवनगर नामक संस्थान है, जिसके प्रधान संचालक देवा जी और अन्य संचालक उनकी पत्नी तथा देव-सैनिक हैं, जो प्रेम तथा सामूहिक परिश्रम के आधार पर समाज का नवनिर्माण करना चाहते हैं। संगीत एक ओर देवा जी के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों से प्रभावित है और दूसरी ओर उनकी पुत्री वाणी की सुषमा से अनुप्राणित है। वह अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिए पचास रुपये प्रति मास पर वहाँ काम करने आया है। वह वाणी के स्नेह को पाकर अपने आदर्श को साकार रूप देना चाहता है। इनमें स्नेह का स्वरूप वासनामय न होकर रोमांटिक है और नेत्रों तक ही सीमित है। संगीत कालान्तर में देवा जी के अवसरवादी दृष्टि-कोण को देख कर और देव-सैनिकों के जीवन में असंगतियों को पाकर देवनगर से निराश हो जाता है। उसके मोह-भंग का मूल कारण देवनगर का विषाक्त वातावरण है, जहाँ करनी और कथनी में भारी अंतर पाया जाता है। वह अनुभव करने लगता है कि देव-नगर अथवा समाज को बदलने के लिए व्यक्तिगत प्रयत्नों में क्षमता नहीं होती। वह वाणी के प्रेम के सम्बन्ध में अनुभव करता है—'वाणी की उन बड़ी-बड़ी आँखों का—उन गहरी-भोली आँखों का प्रताप था जो सदा, कुछ अजीब-सी श्रद्धा और स्नेह से मुझे देखती थी।' उनका स्नेह उस कली के समान है, जो खिलने से पहले मुरझा जाती है और हृदय में एक मधुर कसक छोड़ जाती है। वाणी पन्त की आँसू की

बालिका के समान है। इस नगर में सामन्ती संस्कृति की मान्यताएँ प्रेत की छाया की भाँति मँडराती रहती हैं और संगीत तथा वाणी के पारस्परिक प्रेम को विकसित नहीं होने देतीं। उनके प्रेम का स्वरूप रोमांटिक है, जिसके मूल में व्यक्तिवादी एवं आदर्शवादी जीवन-दृष्टि है। इसलिए वाणी के प्रेम को काव्यात्मक भाषा में व्यक्त किया गया है। उसका 'प्रेम सागर के तट से टकराने वाली लहरों के समान नहीं है, वह अगाध जलराशि है, जो समस्त नदियों का जल समेट कर भी संयत है, एक क्षण के लिए भी विचलित नहीं होता। वह भावना के सहारे जीवन के सागर में तैरने और कभी ग़ोते न खाने वाला अभिन्न, अडिग, अडोल प्रेम है।' संगीत जहाँ क्षोभ के आवेश में आकर वाणी के गोपनीय पत्र को प्रकट कर देता है और बाद में उसे जला भी देता है, वहाँ वाणी अपने संतुलन को कभी नहीं खोती। इस असफल, रोमांटिक तथा आदर्शवादी प्रेम की अभिव्यक्ति में काव्य-रस की निष्पत्ति होती है। पन्त ने इस अनुभूति के आधार पर ही उपन्यास को गीति-उपन्यास की संज्ञा दी है। नायक तथा नायिका के नाम भी काव्यात्मक वातावरण की सृष्टि करते हैं। संगीत का चरित्र बंसीलाल की अपेक्षा अधिक वास्तविक एवं विश्वसनीय है, चेतन तथा जगमोहन की अपेक्षा अधिक रोमांटिक तथा आदर्शवादी है, परन्तु इन नायकों की भाँति संगीत की जीवन-दृष्टि मूलतः व्यक्ति-चिन्तन तथा व्यक्ति-सत्य से प्रभावित है। इस दृष्टि से अनुप्राणित होकर वह देवनगर से, जो समष्टि-चिन्तन का प्रतीक है, घृणा करता है और देवनगर की वाणी से, जो उसके व्यक्ति-विकास की प्रतीक है, प्रेम करता है। संगीत के चरित्र की अवतारणा के मूल में उपन्यास का उद्देश्य लक्षित होता है। उपन्यास उस नायक की कथा कहता है जिसे प्रेम ने बड़ी-बड़ी आँखें दी हैं, जिसकी रूह अभी मरी नहीं, जिसे प्रेम ऊपर उठा देता है, जो समझौता नहीं करता और आदर्श के पीछे निर्मल प्रेम

तक को ठुकरा कर चला जाता है। इन शब्दों में लेखक उपन्यास के नायक के स्वरूप को उद्‌घाटित करता है। संगीत का चरित्र महाकाव्यात्मक अथवा 'एपिक नायक' के साँचे में नहीं ढाला गया है। अश्क यह दिखाना चाहते हैं कि किस तरह 'एक कमज़ोर इन्सान भी वह सब देखने लगता है, वह सब सोचने लगता है जो आदर्श-नायक के अनुरूप है।' इस के माध्यम से ही देवनगर का वास्तविक जीवन आँखों के सामने खुलने लगता है। वे संगीत द्वारा रोमांटिक प्रेम को ठुकराकर यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जीवन का आदर्श प्रेम से ऊँचा है, जीवन का साध्य साधन से बड़ा है और साध्य व्यक्ति-विकास है। यदि देवनगर में संगीत को वाणी उपलब्ध हो जाती तो सम्भव है संगीत प्रेम को ही जीवन का आदर्श समझने लगता और अपनी कुण्ठा का आदर्शीकरण न करता। संगीत को देवनगर में न माया मिली और न राम। इस स्थिति में उपन्यास का दुखान्त होना स्वाभाविक है। संगीत का आदर्श वाणी के निर्मल प्रेम से अनुप्राणित है, जिसे ठुकरा कर वह देवनगर से चला जाता है। इस प्रकार वह अपने आदर्श के प्रेरणा-स्रोत से वंचित होकर निजी आदर्श का पालन करता है। इस असंगति में ही उपन्यास का मूल स्वर ध्वनित होता है, इस विडम्बना में ही उपन्यास का मूल उद्देश्य छिपा हुआ है। संगीत तथा वाणी के पारस्परिक प्रेम को अभिव्यक्ति देने के लिए देवनगर के सामाजिक परिवेश की उद्‌भावना अपेक्षित है। यदि इस समाज में भी, जो महान आदर्शों से संचालित है, प्रेम का विकास नहीं हो पाता तो अश्क के अन्य उपन्यासों में, जहाँ समाज रूढ़ियों एवं विकृतियों से ग्रस्त है, प्रेम के विकास की सम्भावना किस प्रकार हो सकती है? इस प्रकार उपन्यासकार अपनी सभी कृतियों में प्रेम की विफलता का राग अलापता है और इसके विविध स्वरों को विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में ध्वनित करता है। इस प्रेम की अभिव्यक्ति के मूल में लेखक की व्यक्ति-

वादी जीवन-दृष्टि है, जो इसे विविध रूप तथा नाम देती है।

पत्थर-अलपत्थर

अपने पाँचवें उपन्यास 'पत्थर-अलपत्थर' (१६५७) को अश्क अपने अन्य उपन्यासों से भिन्न मानते हैं और इसका कारण शिल्पगत बतलाते हैं। वे इस उपन्यास को 'संगठित, संश्लिष्ट और सुनियोजित' मानते हैं। इस दृष्टि से 'पत्थर-अलपत्थर' को अन्य उपन्यासों से भिन्न घोषित करना असंगत जान पड़ता है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' भी शिल्प की दृष्टि से इतना ही 'संगठित, संश्लिष्ट एवं सुनियोजित' है जितना 'पत्थर-अलपत्थर'। इसमें संदेह नहीं कि 'बड़ी-बड़ी आँखें' यदि लघु-उपन्यास की श्रेणी में आता है तो 'पत्थर-अलपत्थर' को लघुतर उपन्यास की कोटि में रखा जायगा। यदि इस उपन्यास को अश्क के अन्य उपन्यासों से भिन्न स्वीकार करना है तो इसका कारण शिल्पगत न होकर वस्तुगत है। इसमें अश्क ने प्रेम के राग को नहीं अलापा है। इसका नायक कश्मीर का घोड़वान हसनदीन है, जिसके जीवन का करुण चित्र उपन्यास में अंकित किया गया है। इस करुण चित्र को अंकित करने का कारण यह है कि अश्क कश्मीरी जीवन के रोमानी पक्ष का ही चित्रण साहित्य में पढ़ते रहे हैं और इस प्रकार उसके वास्तविक पक्ष से वंचित रहे हैं। इसलिए उन्होंने इस उपन्यास में कश्मीरी जीवन की वास्तविक झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कश्मीरी जीवन के सम्बन्ध में अन्य लेखकों का दृष्टिकोण यात्रियों का रहा है, जो कश्मीर की सुषमा को ही निहारते रहे हैं। अश्क डल झील के कमल की सुषमा को चित्रित करने की अपेक्षा उसके पंक को अपने कला-कौशल का विषय बनाते हैं। इसलिए हसनदीन के माध्यम से वे कश्मीरी जीवन की आर्थिक विषमता को व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं। उनकी दृष्टि में इस घोर विषमता का मूल कारण

'खुदा में परम आस्था' है। इसके अतिरिक्त कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य के मध्य में जनता की अपरूपता एवं निरीहता और यात्रियों तथा संरक्षकों की कठोरता ने उनके हृदय पर गहरी चोट की है। इसलिए वे 'दीनबन्धु' तथा 'दीनानाथ' को गरीबी को सह्य बनाने के लिए अफीम के रूप में आँकते हैं, जिसकी ओर लेनिन ने भी संकेत किया था। हसनदीन का 'खुदा में यक़ीन' एक रूढ़िगत विश्वास है, जिसका लेखक ने विरोध किया है।

अन्य उपन्यासों की भाँति इस उपन्यास को भी आलोचकों ने कभी शैली तो कभी वस्तु की दृष्टि से अनेक नाम तथा रूप दिये हैं। यह लघु उपन्यास न होकर एक लम्बी कहानी है—यह इसका शैलीगत नामकरण है। यह उपन्यास न होकर यात्रा-विवरण है—यह इसका वस्तुगत नामकरण है। इस उपन्यास को प्रतीकात्मक भी कहा गया है—यह भी इसका शैलीगत विवेचन है। इसमें संदेह नहीं कि आकार की दृष्टि से लघु-उपन्यास तथा लम्बी कहानी में लक्ष्मण-रेखा खींचना कठिन हो गया है और यात्रा-विवरण में मानवीय पक्ष की अभिव्यक्ति के फलस्वरूप उपन्यास को यात्रा-विवरण से अलगाना भी दुष्कर-सा लगता है। यदि लेखक की बात मानकर 'पत्थर-अलपत्थर' को लघु-उपन्यास की संज्ञा दे दी जाय तो इसके वस्तु-पक्ष की भिन्नता को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। अश्क के अन्य उपन्यासों के नायक मध्यवित्त समाज के सदस्य हैं, परन्तु इस उपन्यास का नायक निम्न-वर्ग का है। इसके जीवन में प्रेम की समस्या का अभाव है। इसका जीवन आर्थिक चिन्ता से इतना ग्रस्त है कि इसके पास रोमांटिक प्रेम में रमने के लिए न अवसर है और न ही वृत्ति है। इसलिए इसका चरित्र-चित्रण अन्य उपन्यास-नायकों की भाँति व्यंग्यात्मक न होकर भावात्मक है। लेखक ने खन्ना साहब, उनकी पत्नी तथा अन्य यात्रियों के चरित्रों की रेखाओं को उभारने के लिए व्यंग्यात्मक शैली का

उपयोग किया है। खन्ना साहब का बाह्य आडम्बर द्वारा अपने आन्तरिक रीतेपन को ढकने का प्रयत्न, उनकी पत्नी की हृदयहीनता तथा अन्य यात्रियों की स्वार्थपरता को अंकित कर हसनदीन की लघुता में छिपी गुरुता के चित्र को उतारा गया है। हसनदीन की मानवीयता यात्रियों की तुच्छता एवं कृपणता द्वारा निखर कर उभरती है। वह अपनी पत्नी को सुखी और अपने पुत्र को शिक्षित बनाने के लिए कारावास में बन्द है। हसनदीन और उसका पथ निजी अस्तित्व रखते हैं। इस उपन्यास में एक कश्मीरी घोड़वान के जीवन की व्यक्तिगत समस्याओं को चित्रित कर लेखक ने एक नया मोड़ लिया है। प्रेमचन्द की उपन्यास-कला जिस प्रकार 'गोदान' में आकर आश्रमों के समष्टि-चिन्तन से अंशतः मुक्त होकर होरी की व्यक्तिगत समस्याओं के चित्रण की ओर उन्मुख होती है, उसी प्रकार अश्क की उपन्यास-कला मूलतः व्यक्ति-चिन्तन से प्रभावित होने पर भी 'पत्थर-अलपत्थर' में आकर हसनदीन के माध्यम से अंशतः समष्टि-चिन्तन की ओर उन्मुख है। लेखक का समष्टि-चिन्तन अथवा समाज-मंगल-सम्बन्धी दृष्टिकोण हसनदीन के व्यक्तित्व में मुखरित हुआ है, जो उसके भावी विकास की ओर संकेत करता है। अश्क अपने मत की पुष्टि के लिए रूसी उपन्यासकार गोगोल के मन्तव्य का आश्रय लेते हैं—'छोटे-छोटे अकिंचन, अति हेय पात्रों को, जिन से हमारा जीवन-पथ अटा पड़ा है और जिन्हें आसमान में लगी हुई हमारी दृष्टि देखकर भी नहीं देख पाती, उस दैनिक जीवन की दलदल से निकाल, बना-सँवार पाठकों की अन्यमनस्क, उदासीन आँखों के सामने इस प्रकार रखना कि वे उन्हें बरबस देखने और उनका नोटिस लेने को विवश हो जायें, कम कष्ट-साध्य नहीं है।' इस उपन्यास का उद्देश्य तथा हसनदीन का चरित्र-चित्रण इस प्रेरणा की देन है।

निष्कर्ष

अश्क के उपन्यासों को लम्बी यात्रा इसलिए करनी पड़ी है ताकि उनकी कला का मूल उद्देश्य तथा स्वरूप स्पष्ट हो सके। किसी उपन्यासकार की कृतियों के आधार पर ही उसकी कला के वस्तु-पक्ष एवं शिल्प-पक्ष का सही मूल्यांकन हो सकता है। उपन्यास-साहित्य का विवेचन अनेक दृष्टियों से किया जाता है और इनमें वस्तुगत तथा शिल्पगत दृष्टिकोण विशेष रूप से अपनाये गये हैं। उपन्यास-साहित्य के मूल्यांकन में दोनों दृष्टिकोण उपादेय हो सकते हैं, परन्तु इनकी उपादेयता सापेक्षिक है। वस्तुगत दृष्टिकोण के आधार पर उपन्यास-कला को सामाजिक परिवेश में विन्यस्त कर उसे आँका जाता है और उसकी शिल्पगत विशेषताओं का विवेचन उसके मूल उद्देश्य अथवा उपन्यासकार की मूल जीवन-दृष्टि के संदर्भ में किया जाता है। इससे उपन्यास-साहित्य के वस्तु-पक्ष को अधिक महत्व प्राप्त होने की सम्भावना हो जाती है और इसके शिल्प-पक्ष के उपेक्षित हो जाने की आशंका भी बन जाती है, जिससे उपन्यास-साहित्य का संतुलित मूल्यांकन नहीं हो पाता। इन दोनों पद्धतियों की अपनी-अपनी उपलब्धियाँ तथा सीमाएँ हैं। एक क्षेत्र में सकल परिवेश तथा मानव-जीवन की समस्त गतिविधि का ज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता और दूसरे क्षेत्र में जब परिवेश को कृति-विशेष तक सीमित कर दिया जाता है तो उसका मूल्यांकन एकांगी हो जाता है। परन्तु उपन्यासकार की मूल जीवन-दृष्टि के आधार पर उसकी कला के वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष का मूल्यांकन अधिक उपादेय है। अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा कथा-साहित्य में लेखक का दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट रूप में मुखरित होता है। इससे प्रेरित होकर वह घटनाओं का संयोजन, पात्रों का चरित्र-चित्रण, शैली का निर्माण, वातावरण की सृष्टि करता है। उपन्यास-साहित्य का विवेचन प्रायः तात्विक आधार पर होता रहा

है। इन तत्वों में कथानक का गठन, चरित्र-चित्रण का स्वरूप, संवाद, वातावरण की सृष्टि आदि की गणना की जाती है। इस पद्धति को अपनाने से उपन्यास के शिल्प-पक्ष का विश्लेषण एवं विवेचन तो सम्पन्न हो जाता है, परन्तु उसके वस्तु-पक्ष का मूल्यांकन उपेक्षित रह जाता है। उपन्यास-कला का वस्तु-पक्ष एवं शिल्प-पक्ष एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं और ये दोनों उपन्यासकार की जीवन-दृष्टि से रूपायित हैं। उपन्यासकार की जीवन-दृष्टि वस्तुतः व्यक्तिगत एवं समाजगत परिस्थितियों का परिणाम है। आदि काल से साहित्य के सृजन की प्रेरणा व्यक्ति तथा समाज में संतुलन की समस्या से मिलती रही है और व्यक्ति तथा समाज में बदलते हुए सम्बन्धों को व्यक्त करने की आकांक्षा से प्राप्त होती रही है। व्यक्ति-हित तथा समष्टि-मंगल, व्यक्ति-सत्य तथा समाज-सत्य में पारस्परिक विरोध का रूप अभिनव परिस्थितियों, नवीनतम समस्याओं तथा अधुनातम आवश्यकताओं के अनुरूप बदलता रहा है। इस विरोध के शमन के लिए साहित्यकार प्रयत्नशील रहे हैं। युग-विशेष का परिवेश तथा उसकी चेतना के विविध स्तर साहित्यकार की जीवन-दृष्टि को रूपायित करते हैं। व्यक्ति-चिन्तन अथवा समष्टि--चिन्तन की जीवन-दृष्टि आयास तथा अनायास रूप में विकसित होती रहती है और यह जीवन-दृष्टि साहित्य को रूप तथा आकार देने में सहायक होती है। इस मूल जीवन-दृष्टि के आधार पर अश्क तथा अन्य उपन्यासकारों की कला का मूल्यांकन करना अधिक उपादेय है। व्यक्ति-चिन्तन, व्यक्ति-हित, व्यक्ति-सत्य अथवा व्यक्ति-यथार्थ स्वयं में एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि है, जिसका विस्तृत एवं गंभीर विवेचन दार्शनिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इस जीवन-दृष्टि की हेयता अथवा श्रेयता का मूल्यांकन इस निबन्ध का उद्देश्य नहीं है। इसका गन्तव्य अश्क की व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि के आधार पर उनके उपन्यास-साहित्य का मूल्यांकन करना है। इस मूल धारणा को स्थापित करने

के लिए उनके उपन्यासों का विस्तृत विश्लेषण करना पड़ा है। उत्तर-प्रेमचन्द-काल में भारतीय परिवेश में व्यक्ति-चिन्तन के अनेक स्तर उपलब्ध होते हैं, जिनसे युग का साहित्य रूपायित है। अश्क ने, जो इस युग की विचारधाराओं तथा व्यक्तिगत संस्कारों से प्रभावित हैं, व्यक्ति-चिन्तन को हृदय से और समष्टि-चिन्तन को बुद्धि से अपनाया है। इसलिए उनके उपन्यासों में व्यक्ति-हित तथा समाज-मंगल के भाव तथा विचार एक-साथ व्यक्त हुए हैं, परन्तु इनमें सामाजिक पक्ष का मूल्यांकन व्यक्ति-चिन्तन के आधार पर हुआ है। यदि इस सूक्ष्म अन्तर को पकड़ लिया जाये तो अश्क की उपन्यास-कला का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। उनकी कला मूलतः तथा अन्ततः व्यक्तिमूलक है और उनका समष्टि-चिन्तन प्रायः हृदयगत न होकर बुद्धिगत है।

●

मेरे उपन्यास : मेरी दृष्टि में

●

उपेन्द्रनाथ अश्क

'सितारों के खेल' से 'पत्थर-अलपत्थर तक मैं काफ़ी लम्बी यात्रा तय कर चुका हूँ। 'सितारों के खेल' मैंने १६३४ में लिखना शुरू किया था और 'पत्थर-अलपत्थर' १६५४ में। इन बीस वर्षों में व्यष्टि और समष्टि की कतिपय समस्याओं के बारे में जैसे-जैसे मैं सोचता रहा हूँ, अपने इर्द-गिर्द की परिस्थितियों का जो प्रभाव मेरे मन पर पड़ा है, जिन पात्रों ने मेरा ध्यान सर्वाधिक आकर्षित किया है, उनका थोड़ा-बहुत प्रतिबिम्ब पाठकों को मेरे इन पाँचों उपन्यासों में दिखायी देगा। अब किंचित दूरी से जब मैं इन उपन्यासों पर दृष्टि डालता हूँ तो अपने-आप को उस शिल्पी-सा पाता हूँ, जो छोटी-छोटी मूर्तियाँ गढ़ते हुए अचानक एक बृहदाकार मूर्ति बनाना चाहे, और अभी वह उसके पैर ही बना पाये कि उसे छोड़कर उससे किंचित छोटी मूर्ति बनाने लगे, पर उसको भी पूरा किये बिना अन्य छोटी-छोटी मूर्तियाँ गढ़ दे—अथवा

यूँ कहूँ कि उसी बृहदाकार मूर्ति के कुछ रूप अलग-अलग बना दे— इस आशा से कि बड़ी मूर्ति को वह फिर कभी मुकम्मल करेगा।

छोटी-छोटी कहानियाँ लिखते हुए जब मेरे मन में कुछ ऐसी बातें उठीं, जो अभिव्यक्ति के लिए कहानी से बड़ा कलेवर चाहती थीं तो मैंने उपन्यास लिखने की सोची। लेकिन तब मुझे उपन्यास लिखने की उतनी समझ नहीं थी। प्रयास करने पर भी उपन्यास लिख पाना मुझे कठिन लगा। तब मैंने पहले अपनी कहानियों की परिधि कुछ बढ़ायी। 'आर्टिस्ट,' 'सतीत्व का आदर्श,' 'भाई' जैसी अति लघु कहानियाँ लिखते-लिखते मैंने साधारण साइज़ की कहानियाँ लिखनी शुरू कीं, फिर मैंने एक उपन्यास 'एक रात का नरक' लिखा, जो समाप्त होते-न-होते मेरी नज़र से उतर गया और मुझे लगा कि उसके कुछ परिच्छेद किसी बृहदाकार उपन्यास के अंग तो बन सकते हैं, लेकिन कुल मिला कर अपने में सफल उपन्यास नहीं कहला सकते। इसमें मुख्य कथानक से हटकर, यद्यपि उससे जुड़ी, एक स्वतन्त्र कहानी और पहाड़ों के रोमान-भरे लोकगीतों पर एक लेख भी था। इन दोनों को मैंने अलग कर लिया।★ शेष उपन्यास वैसे-का-वैसा ही पड़ा है, जो शायद 'गिरती दीवारें' के किसी भाग का अंग बने।

'एक रात का नरक' समाप्त करते ही मैंने कदरे बेहतर पैटर्न पर 'सितारों के खेल' लिखना शुरू किया। यद्यपि उस समय तक आँखों को यथार्थवादी दृष्टि नहीं मिली थी तो भी कुछ आदर्शवादी स्थितियों की यथार्थता पाने का प्रयास मैं ज़रूर करता था। मेरे दिमाग़ में बचपन से सती अनुसुइया की कहानी सुनते-सुनते यह प्रश्न प्रायः उठा करता

★कहानी 'वह मेरी मंगेतर थी' मेरे कहानी-संग्रह 'जुदाई की शाम का गीत' और लेख 'पहाड़ों के रोमान भरे गीत' मेरे निबन्ध-संग्रह 'रेखाएँ और चित्र' में संकलित है।

था कि कोई युवती जीवन-भर किसी अपाहिज को लिये-लिये कैसे घूम सकती है। अपने इर्द-गिर्द के जीवन पर जब मैं निगाह दौड़ाता था तो मुझे यह लगता था कि ऐसा सम्भव नहीं—धर्म, समाज और अति-भावुकता, यही तीन ज़ंजीरें हैं जो किसी साधारण नारी को उस प्रकार की सती बना सकती हैं। इसी आधारभूत विचार को यथार्थ की कसौटी पर परखने के लिए मैंने कल्पना से एक कहानी गढ़ी, ऐसी परिस्थितियाँ गढ़ीं, जिनसे ऐन-मैन वैसे ही अपाहिज प्रेमी को लिये-लिये घूमने पर उपन्यास की नायिका विवश हुई।

मैं समझता हूँ, आधारभूत विचार की शक्ति में कमी न थी, मेरी अनुभूतियों और लेखन की शक्ति में अपरिपक्वता थी और इसीलिए उस अन्तर्भूत विचार को, जिससे मैं आज भी पूर्णतया सहमत हूँ, मैं उस प्रकार यथार्थ की कसौटी पर न कस सका, जैसे कि आज कसता। साथ ही लगता है मेरे कच्चे मन में नियति का भी कुछ-न-कुछ विश्वास अवश्य था और इसीलिए उपन्यास का नाम मैंने 'सितारों का खेल' रखा। (यों यह नाम ही मुझे इतना पसन्द था कि इस नाम से उपन्यास लिखने की मेरी बड़ी साध थी) लेकिन उपन्यास अभी आधा भी न लिखा गया था कि मेरे जीवन में कई घटनाएँ ऐसी तेज़ी से घटीं कि न केवल ज़िन्दगी के बारे में मेरा दृष्टिकोण बदल गया, बल्कि इर्द-गिर्द की चीज़ों को मैं कदरे गहराई से देखने लगा। तब मुझे महसूस हुआ कि जिस घटना को आदमी, उसके कारणों को न जानते हुए, नियति के मत्थे मढ़ देता है, कई बार वह समाज की रूढ़िग्रस्तता अथवा दूसरी कुरीतियों के कारण होती है। और मैंने जाना कि समाज बदला भी जा सकता है—उसके बन्धन तोड़े भी जा सकते हैं और मनुष्य नियति से चालित होने के बदले उसका संचालन भी कर सकता है।

और 'सितारों के खेल' को लिखते-लिखते मेरे दिमाग़ में एक बृहदाकार उपन्यास की रूप-रेखा बन गयी, जिसमें समाज की रूढ़िवादिता

और कुरीतियों के शिकंजे में जकड़े हुए एक निम्न-मध्यवर्गीय युवक के मनोविज्ञान का यथार्थवादी चित्रण करने की मैंने सोची—यह दिखाने के लिए, कि ज़िन्दगी की जिन घटनाओं को विधाता के मत्थे मढ़ दिया जाता है, प्रायः उनका कारण आदमी के अपने संस्कार, समाजगत स्थितियाँ और वातावरण होते हैं। मैं चाहता था, उपन्यास ऐसे लिखूँ कि अपनी ओर से कुछ न कहना पड़े और उपन्यास को पढ़ कर पाठक के मन में यह प्रबल इच्छा पैदा हो कि यह समाज बदल दिया जाय ताकि व्यक्ति बेहतर तौर पर प्रगति कर सके और अपनी प्रकृत शक्तियों को कुंठित होने से बचाकर अपने भव्य रूप को पा सके।

जवानी के उस जोश में उपन्यास मैंने नौ हिस्सों में लिखने की सोची। लेकिन जब जीवन के संघर्षों ने इतने बड़े उपन्यास को लिखने की मोहलत न दी और सात-आठ वर्षों में मैं उसका एक भाग भी खत्म न कर पाया और मुझे यक्ष्मा ने आ घेरा तो मैंने उसे किसी-न-किसी तरह राउण्ड-अप कर दिया।

'गिरती दीवारें' उस बृहत् उपन्यास के एक भाग का भी असम्पूर्ण रूप है। अपने इस बृहत् उपन्यास में दूसरी बातों के अलावा मैं इस बात पर भी प्रकाश डालना चाहता था कि सच्चा प्यार, जिसके पीछे दुनिया परेशान है, वास्तव में वही नहीं, जिसके गुण हीर-रांझा, सोहिनी-महीवाल अथवा शीरी-फ़रहाद आदि प्यार को लोक-गाथाओं में निरन्तर गाये जाते हैं। न ही वह पहली नज़र का वह प्यार है, जिस पर पश्चिम का सारे-का-सारा साहित्य अवलम्बित है। यदि पहली नज़र का प्यार, सुन्दर का सम्मोहन ही सब कुछ होता तो प्यार के विवाह यों असफल न होते और परियों-ऐसी पत्नियों के संगी बाहर झख न मारते। मैं समझता हूँ, और आज भी इससे सहमत हूँ कि सच्चा, स्थायी प्यार संगी को अच्छी तरह जानने के बाद ही उत्पन्न होता है और जब एक बार वैसा प्यार अंकुरित हो जाता है तो उससे मृत्यु-

पर्यन्त मुक्ति नहीं मिलती। पहली नज़र का प्यार कई बार प्रेम-पात्र के शरीर को पाने की इच्छा-मात्र से उत्पन्न होता है। प्रेमी सफल होता है तो उस इच्छा कि पूर्ति के बाद संगी में दूसरे गुणों की वांछा करता है। वे नहीं मिलते तो प्यार की वह भावना कुण्ठित हो जाती है और कई बार वह प्यार घोर उदासीनता में परिणत हो जाता है। यदि प्रेमी सफल नहीं होता—प्रेम पात्र को अपना नहीं बना पाता—तो वह इच्छा सदा बनी रहती है और प्रेमी समझता है कि उसका वही प्यार सच्चा है जो वास्तव में अतृप्ति ही का दूसरा रूप होता है। फिर कई बार प्रेमी प्रेम-पात्र को पा लेता है और वह प्यार यथार्थ की कसौटी पर कसा जाकर भी बना रहता है। यह तभी होना है जब दोनों संगी शरीर के अतिरिक्त एक-दूसरे के गुण और दोषों से भी प्यार करने लगते हैं।

लेकिन एक चौथी स्थिति भी है। प्यार वहाँ पहले नहीं होता, बल्कि नफ़रत ही होती है। मगर संगी में कुछ ऐसे गुण होते हैं कि वे दूसरे को छा लेते हैं और उस नफ़रत को प्यार के एक ऐसे स्थायी भाव में बदल देते हैं जो हड्डियों में रच जाता है और ज़िन्दगी के साथ ही जाता है।

मैं 'गिरती दीवारें' में प्यार की इसी चौथी स्थिति का चित्रण विशेषरूप से करना चाहता था। प्रकट है कि इसके साथ दूसरी स्थितियों का भी उल्लेख रहता।

लेकिन ज़िन्दगी में प्यार केवल एक समस्या है—बड़ी समस्या सही—मगर कई बार रोज़ी उससे भी बड़ी समस्या बन जाती है और फिर महत्वाकांक्षा (जिसे आदर्श अथवा उद्देश्य का भी नाम दिया जा सकता है) प्यार और रोज़ी से भी बड़ी प्रेरणा-शक्ति बन जाती है। आदमी अपने वातावरण से ऊपर उठ जाना चाहता है, अपने ध्येय को पाना चाहता है, और उस प्रयास में अपनी प्रकृत इच्छाओं का गला स्वेच्छापूर्वक, किंचित गर्व की भावना से, घोंटता चला जाता है।

मैं इस उपन्यास के माध्यम से निम्न-मध्यवर्ग के वैवाहिक जीवन,

आर्थिक और सामाजिक समस्याओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं, महत्वाकांक्षाओं, कुण्ठाओं, विडम्बनाओं, सद्वृत्तियों, कुवृत्तियों, ग्रन्थियों और विकृतियों का चित्रण करना चाहता था। उपन्यास के पहले तीन भागों में प्रेम की उस चौथी स्थिति के साथ, जिसका उल्लेख मैंने ऊपर किया है, मैं चन्दा की कहानी कहना चाहता था, जिसकी केवल झलक-मात्र मैं उपन्यास के इस वर्तमान रूप में दिखा पाया। चन्दा के बदले यह नीला और चेतन की कहानी बन गया है। यही नहीं उपन्यास क्योंकि बहुत बड़ी परिधि घेरने वाला था, इसलिए उसमें केवल नीला और चेतन की कहानी ही नहीं रही, चेतन का पूरा वातावरण उसके माता-पिता, भाई और भाभी के चरित्र-चित्रण के साथ आया है। फिर अपनी शक्तियों का उचित माध्यम खोजने के सम्बन्ध में चेतन की समस्त भटकन भी उपन्यास में चित्रित हुई है और यों चाहे 'गिरती दीवारें' (उसका वर्तमान रूप) अपने में पूर्ण लगता है, पर मेरी दृष्टि में यह उस बृहत् उपन्यास की भूमिका-मात्र है।

'सितारों के खेल' को लिखते-लिखते (और 'सितारों के खेल' अपरिपक्व ही सही गढ़ा-गढ़ाया उपन्यास है) अपनी उस नयी दृष्टि से मैंने पाया कि ज़िन्दगी गढ़े-गढ़ाये ढंग से नहीं चलती। और मैंने चाहा कि 'गिरती दीवारें' ज़िन्दगी की तरह ही चले, बढ़े और फैले। प्रकट है कि ऐसा उपन्यास सुसंगठित और सुनियोजित नहीं हो सकता।

'गिरती दीवारें' से पहले मैंने 'सितारों के खेल' ही न लिखा था, अपना पहला नाटक 'जय पराजय' भी लिख लिया था, जिसमें राजकुमार चण्ड, भारमली और राघवदेव-जैसे आदर्श पात्रों की सृष्टि मैंने की थी। भारमली के सम्बन्ध में कभी डाक्टर नगेन्द्र ने लिखा था, 'और भारमली—वह तो देवसेना और मालविका* के गौरव की

*प्रसाद के नाटकों की दो अमर पात्रियाँ।

अधिकारिणी है। भारमली इस युग की अमर सृष्टि है"—और यदि मैं उसी पथ पर अग्रसर रहता तो लेखनी की प्रौढ़ता से चण्ड अथवा भारमली से कहीं ऊँचे पात्रों की सृष्टि करता। पर इस नयी दृष्टि से देखने पर मुझे लगा कि चण्ड और भारमली जैसा तो एक भी पात्र जीवन में नहीं मिलता, कि मानव तो गुण-दोषों से बना है; कि जीवन तो कूड़े-करकट, धुएँ-धुंध, गर्द-गुबार, कीचड़ और दलदल से अटा पड़ा है। मानव इतना सरल नहीं कि देवता हो, वह पासे का सोना नहीं, अष्टधातु का मिश्रण है; कि उसके बाहर ही उलझनों का अपरिमित विस्तार नहीं, उसके अन्तर में बे-गिनती स्तर हैं, जिनके नीचे ऐसी-ऐसी अँधेरी कन्दराएँ हैं, जिनकी झाँकी मात्र कँपा देने को यथेष्ट है . . . और मैंने सोचा कि किसी पासे के सोने से बने देवता को चित्रित करने के बदले इसी गुण-दोषों के पुतले मानव ही का चित्र क्यों न उरेहा जाय।

आदर्श से प्रेरणा मिलती है, इसमें सन्देह नहीं, लेकिन जब पाठक काल्पनिक आदर्श पर आगे बढ़ता है और यथार्थ के स्पर्श से उसकी आँखें खुलती हैं तो निराशा भी कम नहीं होती और वह निराशा ऐसी कुंठा को जन्म देती है और कई बार ऐसी तीव्र प्रतिक्रिया पैदा करती है कि मानव दूसरे छोर पर जा पहुँचता है। आज भी जब मैं देखता हूँ कि वे लोग जिन्होंने महात्मा गांधी के अनुकरण में बड़ी-बड़ी नौकरियाँ छोड़ दीं और उनके आह्वान पर अपना सर्वस्व बलिदान करने में ज़रा भी आनाकानी नहीं की, छोटे-छोटे स्वार्थों पर प्राण देते हैं और छल-छन्द, झूठ-कपट, धोखा-धड़ी और तिकड़मबाज़ी—कोई ऐसी बात नहीं जिसका उपयोग वे अपना मतलब साधने के लिए नहीं करते, तो भावुकता के क्षण में आदर्श के पीछे चलने वालों की इस प्रतिक्रिया को देखकर कभी-कभी यह खयाल आता है कि यदि उन्होंने वह बलिदान ज़िन्दगी की यथार्थतता के ज्ञान के बावजूद किया होता तो

उनका ऐसा पतन न होता। आदर्श के चित्रण से मुझे इनकार नहीं। पर मैं समझता हूं मानव जो भी आदर्श बनाये, वह ज़िन्दगी के यथार्थ पर टिकें हों। भावना की झोंक में यह प्रतिज्ञा कर लेना सरल है कि जब तक स्वराज्य न मिल जाय, मैं शादी न करूंगा, लेकिन बिना कुंठित हुए उसे निभाना कठिन है—महात्मा गांधी के आश्रम में ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले कितने ही लोगों की बात न भी कहें तो सुभाष बाबू की मिसाल हमारे सामने है। हम किसी ऐसे आदर्श पात्र को चित्रित कर सकते हैं जो भीष्म प्रतिज्ञा करता है और जीवन भर उस पर अडिग भी रहता है—'जय-पराजय' में मैंने चण्ड के रूप में एक ऐसे आदर्श पात्र का चरित्र चित्रित किया है, लेकिन ऐसे आदर्श पात्र से प्रेरणा पाकर वैसी ही प्रतिज्ञा करने वाला निश्चय ही मुँह के बल गिरेगा, इसीलिए कि वह ज़िन्दगी की यथार्थता को नहीं जानता। मेरे खयाल में ज़िन्दगी और उसकी यथार्थताओं को जान लेना पहले ज़रूरी है। उन्हें पूरी तरह जानकर जो आदमी कोई प्रतिज्ञा करेगा, अथवा आदर्श बनायेगा वह उन्हें निश्चय ही निभा भी ले जायेगा।

'गिरती दीवारें' (उपन्यास के वर्तमान रूप) में मुझे अवसर नहीं मिला कि मैं ज़िन्दगी की यथार्थताओं में से निकलकर, दृढ़ से दृढ़तर होने वाले चेतन के व्यक्तित्व का रूप दिखा सकूं, लेकिन उद्देश्य मेरा यही था। 'गिरती दीवारें' का यह भाग नायक की उम्र के उस हिस्से को लेकर लिखा गया है, जब कि वह नहीं समझ पाता कि अन्ततोगत्वा जीवन में उसे क्या करना है, कि उसकी प्रतिभा जीवन में किस मार्ग को पकड़ कर विकसित होगी? वह कभी इस मार्ग को पकड़ता है, कभी उसको। कभी एक ओर सरपट भागता है, कभी दूसरी ओर—वह साहित्यकार, संगीतज्ञ, चित्रकार, अभिनेता—सभी कुछ बनना चाहता है—उम्र के इसी भाग के जोश वलवलों, आशाओं-निराशाओं, कल्पना के पारस को छूकर एक क्षण में बन उठने वाले और यथार्थता

की ठोकर से दूसरे ही क्षण ढह जाने वाले बुद्बुद् से स्वप्नों, उसके असफल प्रेम और अनभिज्ञ विवाह, तथा उसके अन्तर और बाह्य-द्वन्द्वों को उपन्यास का यह भाग दर्शाता है। मैंने इस बात का प्रयास ज़रूर किया है कि नायक जितनी उम्र का है, उससे बड़ी उम्र की बात वह न बोले। उसके मुँह में बड़ी-बड़ी बातें रखना मुश्किल न था, मुश्किल था न रखना।

'गिरती दीवारें' को लिखते-लिखते कई बार मुझे यह लगा कि मैंने उपन्यास को एक ही व्यक्ति की अनुभूतियों के माध्यम से लिखना शुरू करके शायद अपने लिए कठिनाई मोल ले ली है। यह ठीक है कि जीवन-कथा के रूप में कही जाने वाली कहानी अधिक विश्वसनीय (Authentic) मालूम होती है, कल्पना का समावेश भी रहता है तो मालूम नहीं होता और लगता है कि लेखक अपनी ही आत्मकथा कह रहा है, लेकिन कठिनाई यह रहती है कि यदि कथा-नायक बच्चा अथवा किशोर है तो उसके मुँह में कोई ऐसी बात नहीं रखी जा सकती जो बच्चा अथवा किशोर नहीं सोच सकता।

यदि मैं 'गिरती दीवारें' मन के अनुसार नौ भागों में लिखता तो 'गर्म राख' में वर्णित कथा कदाचित् उसके चौथे अथवा पाँचवें भाग में आती। लेकिन तब उसका रूप ऐसा निश्चित नहीं होता, दूसरी घटनाएँ और पात्र भी काफ़ी बदले हुए रूप में चित्रित होते। जब 'गिरती दीवारें' मैंने उस तरह से राउण्ड-अप कर दिया और बीमारी से अपेक्षाकृत मुक्त होकर मैं इलाहाबाद आ गया तो मैंने तय किया कि 'गिरती दीवारें' यदि आगे बढ़ाऊँगा तो केवल उसके दो भाग और लिखूँगा। इसलिए 'गर्म राख' में वर्णित घटनाओं और समस्याओं पर मैंने अलग से एक उपन्यास लिखने का निश्चय किया।

पहले-पहल मैं उपन्यास का ठीक पैटर्न नहीं बना पाया। मैंने यह

तय कर लिया कि उपन्यास छोटा लिखूँगा, इसलिए 'गिरती दीवारें' की बुनावट से काम न चल सकता था। एक ही पत्र के रूप में एक लम्बी कहानी अथवा लघु-उपन्यास लिखने की साध मेरे मन में बड़े दिनों से थी। इसलिए अपना यह उपन्यास मैंने पहले एक पत्र ही के रूप में यों आरम्भ किया :

प्रिय सित्तो,

आठ वर्ष बाद तुम्हारा पत्र मिला, मैं इसका उत्तर भी दे चुका हूँ—संक्षिप्त और शिष्ट। तुम्हारे इस पत्र को पढ़कर मुझे जो झुँझलाहट हुई है, उससे विवश होकर मैं तुम्हें यह लम्बा पत्र लिख रहा हूँ। मैं इसमें संक्षेप और संकोच से काम न ले सकूँगा, क्योंकि मुझे तुमसे कुछ ऐसी बातें कहनी हैं, जो मैं शायद तुमसे कभी न कहता, यदि आठ वर्ष बाद तुम सहसा यह पत्र लिखकर श्रद्धा की उस भावना को चकनाचूर न कर देतीं, जो इस आठ वर्ष के अरसे में, अज्ञात रूप से बढ़कर प्रेम की एक सूक्ष्म-सी, प्रच्छन्न, मीठी-मीठी, पर दर्दभरी-सी भावना में परिणत हो रही थी।

सित्तो, तुम नहीं जानतीं (जान भी कैसे सकती हो, जब इन आठ वर्षों में हमारे बीच एक पत्र का भी आदान-प्रदान नहीं हुआ) कि तुम्हारे चले जाने के बाद एक दिन मैं अचानक कवि बन गया। उस तरुण की तरह, जिसके अन्तर में, रात के धुँधलकों में से उगती हुई सुबह की तरह प्रेम का आलोक अंकुरित हो रहा हो, मैं भी कुछ विचित्र-सी, अर्द्ध-निद्रित-सी, स्वाप्निल-सी, नशीली, सरूरभरी-सी दुनिया में रहने लगा। मेरी यह बात सुनकर तुम्हें विश्वास न आयेगा। इन पंक्तियों को पढ़ते समय तुम्हारे होंठों पर अनायास फैल उठने वाली विद्रूप की रेखा को मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। लेकिन यह सच है कि तुम्हारी याद को लेकर मैंने कई कविताएँ लिखीं। मैं जानता हूँ, मैं कवि नहीं हूँ—कल्पना के

संसार में रहने के बदले यथार्थ की दुनिया का वासी हूँ। पत्रकारिता, राजनीति और फिर फ़िल्म के इस कूड़े और कल्पना के संसार की स्वच्छता में आकाश-पाताल का अंतर है, परन्तु इन आठ वर्षों में ऐसा समय भी आया जब मेरी सुधि समुद्र पार के उन अनजाने रास्तों में तुम्हारा पीछा करती रही, जहाँ तुम अपनी निराशा के क्षणों में परिणीता बनकर चली गयीं। इन आठ वर्षों में सित्तो, मैं अपने हृदय के एकांत में किसी तरुण कलाकार की निष्ठा से प्रेम के प्रासाद बना रहा था, जो तुम्हारे इस पत्र ने चीनी के खिलौनों की तरह चूर-चूर कर दिये....

लेकिन जब मैं एक परिच्छेद लिख चुका तो मुझे लगा कि यह तो कुछ 'गिरती दीवारें' ऐसा ही पैटर्न बन रहा है 'गिरती दीवारें' का नायक अन्य पुरुष का रूप धरता है और इस पत्र का नायक प्रथम पुरुष का—पर उपन्यास को तो इस सूरत में भी एक ही व्यक्ति की अनुभूतियों के माध्यम से आगे बढ़ना था। और यह बात मुझे पसन्द न थी। शिल्प की कठिनाई के अतिरिक्त इस पैटर्न में उपन्यास के प्रवाह और उसकी ऊर्मियों के वैविध्य को कायम रखना बड़ी ही साधना चाहता है। तब मैंने उपन्यास को फिर नये सिरे से लिखना शुरू किया।

इस बार पहला परिच्छेद कुछ ऐसी व्यंग्य, विद्रूप और हास्य भरी शैली में लिखा गया कि मुझे बड़ा अच्छा लगा और मैं उसी रंग में लिखता चला गया।

जब उपन्यास समाप्त हो गया तो मैंने पाया कि वह भावुकता-भरी रोमानी शैली, जिनमें कि वह पत्र शुरू किया गया था, हास्य व्यंग्य भरी शैली में परिणत हो गयी। जहाँ से उपन्यास शुरू हुआ था, वहाँ खत्म हुआ और उस पत्र की सित्तो उपन्यास में गहर गम्भीर सत्या जी

बन गयी और पत्र का 'मैं' जगमोहन बनकर सामने आया। पर वह जगमोहन उस पत्र का प्रेमी जगमोहन नहीं। निम्न-मध्यवर्ग का, अपने वातावरण से आक्रान्त, भीरु युवक है....और फिर वो हिन्दी के 'बायरन' कवि चातक, वो दूसरों की कलंक-कहानियों में सुख पाने वाले शुक्ला जी, वो धार्मिक संस्था में पल, पढ़ और बढ़ कर नास्तिक बनने वाले धर्म जी, वो वर्तमान व्यवस्था को बदल देने की फ़िक्र में ग़लतान अपने पिता के कुकर्मों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सच्चा जनसेवक बन जाने वाला हरीश, वो उससे प्रेम करने वाली निर्भीक दुरो—ये सब अपने-अपने निश्चित व्यक्तित्व लिये हुए जगमोहन और सत्या जी के साथ अपने-आप 'गर्म राख' में चले आये।

'गिरती दीवारें' की तुलना में 'गर्म राख' के सम्बन्ध में यह शिकायत की गयी है कि जहाँ 'गिरती दीवारें' में पात्रों का विकास दिखाया गया है, वहाँ 'गर्म राख' के पात्र निश्चित हैं और विकास किसी का नहीं होता। बात यह है कि दोनों उपन्यासों के उद्देश्य भिन्न हैं। 'गिरती दीवारें' निम्न-मध्यवर्गीय समाज की सैरबीनी (पैनोरेमिक) तस्वीर प्रस्तुत करता है। मैं 'गिरती दीवारें' को वातावरण-प्रधान उपन्यास कहूँगा, उसमें व्यक्ति के माध्यम से समाज का चित्र प्रस्तुत है, जबकि 'गर्म राख' में समाज के माध्यम से व्यक्तियों का। 'गिरती दीवारें' समस्या-प्रधान नहीं, व्यक्ति-प्रधान है, यों उसमें समस्याओं की कमी नहीं, 'गर्म राख' समस्या-प्रधान है। और जब वह एक समस्या को लेकर चलता है तो उसी के विभिन्न तान और पलटे उसमें दिखायी देते हैं।

मैंने बचपन में राजा भर्तृहरि के प्रेम, निराशा और वैराग्य की कहानी सुनी थी, जो न जाने क्यों मुझे सदा कोंचती रही। जब मैं बड़ा हुआ तो कभी-कभी मैं सोचा करता था कि इतनी बड़ी प्रजा के

हित-अहित की चिन्ता रखने वाला कैसे अपनी व्यक्तिगत निराशा के क्षण में उस सब को भूलकर जीवन से पलायन कर गया। जीवन में मुझे बार-बार प्रेम की असफलता में आत्महत्या कर लेने वाले अथवा उसकी प्रतिक्रिया में अनचाहे संग निभाने वाले लोग मिले हैं। उनकी गाथाएँ भी मैंने पढ़ी हैं और मेरा मन सदा उस पलायन से विद्रोह करता रहा है।

सत्या जी जैसी लड़कियाँ हमारे निम्न-मध्यवर्गीय समाज में बीसियों मिल जायेंगी। इसीलिए मैंने इकतरफ़ा प्रेम और उसकी निराशा को लेकर यह उपन्यास लिखा। मुझ पर नायिका के प्रति क्रूरता का अभियोग लगाया गया है। मैं नायिका और उस जैसी बेगिनती युवतियों और युवकों के दुख से दुखी न होता तो यह उपन्यास कभी न लिखता। ज़िन्दगी बड़ी विशाल है। एक प्रेम और उसकी असफलता, यदि वह व्यक्ति को जीवन से विमुख कर देती है तो मैं उस प्रेम और उस पलायन के गीत नहीं गा सकता। साधारणतः एक ही प्रेम के लिए ज़िन्दगी भर पागल रहने वालों की गाथा लोक-कथाओं, कहानियों और उपन्यासों में मिलती है। लोग ऐसे प्रेमियों के दुख से दुखी होकर लम्बी साँसें भरते हैं। मुझे वह सब जीवन का अपमान लगता है।

निम्न-मध्यवर्ग में इस समस्या के जितने रूप हैं, उन सभी का चित्रण मैंने 'गर्म राख' में किया है।

एक आलोचक ने मुझ पर यह भी अभियोग लगाया है कि प्रेम में मेरा विश्वास नहीं। बात ऐसी नहीं है। प्रेम की अनुभूति को मैं जीवन की बड़ी ही कीमती, बड़ी ही प्यारी अनुभूति मानता हूँ। लेकिन उसके बिना कुछ नहीं है, यह मैं नहीं मानता। प्रेम में मेरा विश्वास है, लेकिन ज़िन्दगी में मेरा विश्वास उससे भी ज़्यादा है। प्रेम यदि ज़िन्दगी को बेहतर तौर पर जीने में मदद नहीं देता, तो मैं उसे आदमी की शक्ति का अपमान समझता हूँ। जगमोहन को चातक जी जैसी कुंठाओं

का शिकार होने देना मुझे स्वीकार नहीं था और प्रेम की निराशा में सत्या जी ने जो कुछ किया, वह उनकी स्थिति में पड़ने वाली कोई युवती (और युवक) न करे, यही मैं चाहता हूँ और इसलिए मैंने यह उपन्यास लिखा है।

जहाँ तक पात्रों के चरित्र-चित्रण का प्रश्न है, कुछ आलोचकों ने ऊपरी तौर पर इसे पढ़कर उसे कैरिकेच्चरिंग (उपहासास्पद चित्रण) का नाम दिया है— विशेषकर चातक जी के चरित्र-चित्रण को। मैं ऐसा नहीं मानता। कैरिकेच्चरिंग में सहानुभूतिहीन खिल्ली उड़ायी जाती है, लेकिन 'गर्म राख' के किसी पात्र के प्रति मैंने ऐसा नहीं किया। यहाँ तक कि चातक जी का चरित्र चित्रित करते समय भी सहानुभूतिपूर्ण व्यंग्य का ही सहारा लिया गया है। चातक जी का कवि-हृदय होना और उनकी पत्नी का कुरूपा— यह एक स्थिति ही उनके सारे बायरन-वादी व्यवहार के प्रति पाठक के मन में अव्यक्त सहानुभूति जगा देती है। शुक्ला जी के टुच्चेपन के पीछे भी उनकी पत्नी की अपरूपता और उनके जीवन-संघर्ष का अत्यन्त विकट होना ही है।

मुझे बनावट से चिढ़ है और समाज में जितनी बनावट है, उसका पर्दा फ़ाश करना मुझे अत्यन्त प्रिय लगता है। इसीलिए 'गर्म राख' में बहुत से पात्रों का व्यंग्य-विद्रूप भरा चित्रण है, जो उनकी बनावटों की पोल खोलता है। 'क्या ज़िन्दगी में भले पात्र नहीं हैं,' मुझसे कई बार प्रश्न किया जाता है,'आप उनका चित्रण क्यों नहीं करते ?' पहली बात तो यह है कि शत-प्रतिशत भले और शत-प्रतिशत बुरे पात्र ज़िन्दगी में नहीं हैं। फिर भले पात्रों का चित्रण मैं एकदम ही छोड़ जाता हूँ, ऐसी बात नहीं। 'गिरती दीवारें' में चेतन की माँ, उसके दादा, बड़े भाई, यादराम, मंत्री; 'गर्म राख' में सत्या जी के चाचा; 'बड़ी-बड़ी आँखें' में वाणी, संगीत, ज्ञानी जी; 'पत्थर-अलपत्थर' में हसनदीन— ये सब भले पात्रों का ही तो प्रतिनिधित्व करते हैं, लेकिन मुझे यह स्वीकार करने में संकोच नहीं कि

शत-प्रतिशत भले पात्र मुझे आकर्षित नहीं करते। बुरे पात्र क्यों बुरे हैं, क्यों वैसा आचरण करते हैं, यह बात मुझे ज़्यादा आकर्षित करती है और उनके बारे में लिखना मुझे भाता है, क्योंकि ज़िन्दगी को जानने और समझने के लिए उन्हें जानना और समझना ज़रूरी है। जो समस्या जैसे पात्रों के माध्यम से ठीक व्यक्त होती है, वैसे ही पात्रों के माध्यम से मैं व्यक्त करता हूँ, केवल अच्छे-बुरे पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए मैं उपन्यास नहीं लिखता।

जिस प्रकार 'गर्म राख' लिखते वक्त मैं छोटा उपन्यास लिखना चाहता था, उसी तरह 'बड़ी-बड़ी आँखें' की थीम पर मैं वृहद्काय उपन्यास लिखना चाहता था। मेरे मन में उसका रूप कुछ 'गर्म राख' के वर्तमान रूप ऐसा था। कवि चातक और शुक्ला जी की तरह बहुत से लोगों का चित्रण व्यंग्य-विनोद भरी शैली में करना और बहुत-सी बनावटों का पर्दा फ़ाश करना मुझे अभीष्ट था। उपन्यास यदि मैं वैसा लिख पाता तो बहुत तीखा, कटु और व्यंग्यमय होता। लेकिन चूँकि मैं उन आधारभूत घटनाओं और समस्याओं पर दस बरस तक सोचता रहा, इसलिए बहुत-सी कटुता अपने-आप निकल गयी। फिर इतने बरसों निरन्तर इस पर सोचते हुए मेरे मन में एक दूसरा ही आधारभूत विचार अंकुरित हुआ और मुझे लगा कि मैं सारे निरर्थक पात्रों को काटकर केवल इस नयी आधारभूत थीम को लेकर एक लघु उपन्यास लिखूँ। उन्हीं दिनों मुझे आकाशवाणी इलाहाबाद से एक लघुउपन्यास लिखने का निमन्त्रण मिला और चूँकि थाम पकी हुई थी, मैंने डेढ़ महीने में उपन्यास लिख डाला— कम-से-कम उपन्यास का वह पहला वर्शन जो रेडियो से ब्राडकास्ट हुआ। रेडियो से प्रसारित होने के बाद यह साप्ताहिक हिन्दुस्तान में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। जल्दी में लिखे जाने पर भी यह उपन्यास कुछ ऐसा बना कि पाठकों और

आलोचकों को बेहद पसन्द आया, भारत सरकार ने इस पर दो हज़ार का पुरस्कार भी दिया। और उन लोगों ने भी इसकी गहराई को स्वीकार किया, जिन्हें मेरे पहले उपन्यासों में उसके अभाव की शिकायत थी।* कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने इसे गीति-उपन्यास का नाम दिया।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं समझता हूँ कि दो-एक आलोचकों को छोड़कर बहुत कम लोगों ने इसके ठीक अर्थों को पाया और परखा। अधिकांश लोगों ने इसे रोमानी उपन्यास समझा और इसकी प्रशंसा की। कुछ लोगों को इसका प्रकृति-चित्रण ही भाया, कुछ को इसकी भाषा की अति सरलता तथा संगीतमयता रुचि और बहुत थोड़े से लोग ऐसे भी हैं, जिन्हें संगीतजी की आदर्शवादिता विशेष पसन्द आयी। लेकिन उपन्यास जिस आधारभूत-विचार को लेकर लिखा गया था, उसकी ओर केवल एक ही दो आलोचकों ने संकेत किया।

उपन्यास को यदि गहरी दृष्टि से देखा जाय तो यह उतना सामाजिक नहीं जितना राजनीतिक है। चूँकि इसमें प्रत्यक्षरूप से राज-नीति की चर्चा बिलकुल नहीं है, शायद इसीलिए लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं हुआ। जिस प्रकार जायसी के पद्मावत की काया प्रेम काव्य की है, लेकिन आत्मा सूफ़ी भक्ति-भावना की, उसी प्रकार 'बड़ी-बड़ी आँखें' के रोमानी कथानक में राजनीतिक भावना आत्मा के रूप में विद्यमान है। पूरे का पूरा देवनगर और उसकी व्यवस्था एक विशिष्ट सरकारी ढाँचे का प्रतीक है। मैंने उपन्यास के अन्तिम दो पृष्ठों की केवल छः-सात पंक्तियों में इसका यों स्पष्ट संकेत किया है:—

'देवनगर मुझे (उपन्यास के नायक संगीत जी को) उस देश-सा

***पंजाब भाषा विभाग द्वारा १९६० में प्रकाशित श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का लेख।**

लगा, जिसका प्रधानमंत्री उदाराशय, स्वप्नशील, भविष्यद्रष्टा हो, पर जिसके सहकारी अवसरवादी, चाटुकार और खुशामदी हों और जिसके दफ़्तरों में भ्रष्टाचार और स्वजनपालन का दौर-दौरा हो। उस प्रधानमंत्री की अच्छाई, स्वप्नशीलता और भविष्य-दर्शन के बावजूद उस देश का क्या बन सकता है? यदि वह एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक सारे नज़ाम को नहीं बदल सकता तो उसे एक के बाद एक समझौता करना पड़ेगा, उसके सारे आदर्श धरे-के-धरे रह जायेंगे और देश रसातल में चला जायगा।....

पूरे का पूरा देवनगर ऐसे देश का प्रतीक है। अब यदि कोई पाठक इस पैरे को नहीं पढ़ता, यानी पढ़कर भी इन पंक्तियों के महत्व को नहीं समझ पाता (जिनकी उपन्यास में कोई ज़रूरत नहीं है, लेकिन जिन्हें पाठक को उपन्यास के कथानक का प्रतीक समझाने के लिए ही लिखा गया है।) तो प्रकट है कि उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा। पाठकों की दिक्कत समझकर ही शायद जायसी ने भी पद्मावत की कथा का प्रतीक-सूत्र आरम्भ की निम्नलिखित अर्द्धाली में दिया था :—

तन चितउर मन राजा कीन्हा; हिय सिंहल बुधि पद्मिनि चीन्हा।
गुरू सुआ जेहि पंथ देखावा, बिन गुरु जगत को निरगुण पावा।

इस प्रमुख थीम के अतिरिक्त एक-दो गौण विचार भी, जो मुझे प्रायः कोंचते रहे हैं, इस उपन्यास के माध्यम से व्यक्त हो गये :—

१—बड़े सपने देखने के लिए अन्तर की बड़ी आँखें दरकार हैं।

२—ज़िन्दा रूह ही घायल हो सकती है, मुर्दा रूह को तो कचोके भी नहीं छूते।

३—समझौता ज़िन्दगी की शर्त सही, लेकिन आदमी के पास कहीं तो कुछ ऐसा हो, जहाँ वह किसी-से-किसी भी कीमत पर समझौता न करे।

४—हर प्रेम के तल में कहीं ज़रूर वासना की हल्की धारा होती है, लेकिन ऐसा प्रेम भी है, जो गिराता नहीं, उठाता है। जो मन को वे आँखें दे देता है, जो अनजाने भेद जान लेती हैं और शरीर को वह शक्ति प्रदान करता है कि आदमी अनजानी मुसीबतों से जूझ जाता है।

और 'बड़ी-बड़ी आँखें' उस नायक की कथा कहता है, जिसे प्रेम ने अन्तर की वे आँखें प्रदान कर दी हैं, जिसकी रूह अभी मरी नहीं, जिसे प्रेम ऊपर उठा देता है, जो समझौता नहीं करता और आदर्श के पीछे निर्मल प्रेम तक को ठुकराकर चला जाता है। वह कोई महान आदर्श नायक नहीं। निम्न-मध्यवर्ग का कमज़ोर इन्सान है, पर वही कमज़ोर इन्सान वह सब देखने लगता है, वह सब सोचने लगता है और उसी के माध्यम से 'देवनगर' का वास्तविक रूप सामने आ जाता है। क्यों और कैसे? वही प्रक्रिया महत्वपूर्ण है।

'बड़ी-बड़ी आँखें' के ये आधारभूत सत्य मैंने यहाँ उपन्यास से अलग करके लिख दिये हैं, लेकिन उपन्यास में ऐसे समोये हुए हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता।

मेरा पाँचवाँ उपन्यास 'पत्थर-अलपत्थर' मेरे सभी उपन्यासों से भिन्न है और यदि लेखक की बात उसकी रचना के बारे में कोई महत्व रखती है तो मैं कहना चाहूँगा कि शिल्प की दृष्टि से यह सर्वाधिक संगठित, संश्लिष्ट और सुनियोजित है। कश्मीर के बारे में मैं जब भी कहानियाँ पढ़ता था, मुझे लगता था कि वे सब रोमानी कहानियाँ कश्मीर के जीवन का यथार्थ चित्रण नहीं करतीं। १९५३-५४ में मैं दो बार कश्मीर गया। वहाँ के लेखकों से मैंने इस बात की शिकायत भी सुनी, मैंने वहाँ के शहर और देहात भी देखे और मुझे लगा कि कश्मीरी लेखकों और पाठकों की उस शिकायत में काफ़ी सार है। यों तो किसी प्रदेश के समाज का यथार्थ चित्रण करने के लिए वहाँ काफ़ी अरसे

तक जन-जीवन में घुल-मिलकर रहने की ज़रूरत है, लेकिन समाज के किसी एक पक्ष को थोड़े अरसे में भी देखा और परखा जा सकता है और उसके बारे में अधिकारपूर्वक लिखा भी जा सकता है। मैंने 'पत्थर-अलत्थर' में उसी पक्ष को लिया, जिसका पूरा-पूरा अनुभव मुझे स्वयं था।

प्रकट रूप में 'पत्थर-अलपत्थर' कश्मीर की घाटी में उसके सर्वाधिक लोकप्रिय स्थानों—गुलमर्ग और खिलनमर्ग और उनसे भी ऊपर १३-१४ हज़ार फुट की ऊँचाई पर हिम-मंडित शिखरों से घिरी अलपत्थर की दिलफ़रेब झील को देखने के लिए जाने वाले विज़िटरों और उन्हें ले जाने वाले घोड़वानों की कहानी है, जिनमें पहले पत्थर दिल है और दूसरे पत्थर दिमाग़। उपन्यास का नायक हसनदीन कश्मीर की घाटी के उस अकथनीय सौंदर्य में रेंगने वाली निरीह ग़रीबी का प्रतीक है और खन्ना साहब वहाँ का रस लूटने को जाने वाले पत्थर दिल मध्यवर्गीय कंजूस विज़िटरों का।

लेकिन यह तो उपन्यास का ऊपरी ढाँचा है। यदि इतना भर ही दिखाना मुझे अभीष्ट होता तो मैं इसे न लिखता या जिस प्रकार इसे मैंने लिखा है, वैसे न लिखता। दो-तीन बातें जो कश्मीर की उस यात्रा में बार-बार मेरे मन में उठीं, मुझे कोंचती रहीं, उनपर मैं प्रकाश डालना चाहता था। पहली थी, खुदा में वहाँ की ग़रीब जनता की परम आस्था—अपने हर भले-बुरे का निमित्त खुदा को मानना! और यही एक बात शायद वहाँ की घोर ग़रीबी का कारण भी है। दूसरी, वहाँ का अनुपम सौन्दर्य और उसमें बसने वाली अपरूपता और तीसरी, वहाँ की सैर करने वालों और संरक्षकों की कठोर निर्दयता—Callousness। ये विषमताएँ इतनी प्रकट थीं कि कश्मीर की यात्रा के बाद कुछ और लिखना, अपने पहले के प्रोग्राम को निभाना, मेरे लिए कठिन हो गया। मैंने कुछ कहानियाँ इन्हीं समस्याओं को लेकर लिखीं, पर जब तक मैंने

'पत्थर-अलपत्थर' के माध्यम से इन तीनों बातों के बारे में, अपनी समझ के अनुसार, अपनी बात पूरी तरह नहीं कह दी, मैं किसी और काम को हाथ नहीं लगा पाया।

सभी धर्म-ग्रन्थों में भगवान को दीनबन्धु दीनानाथ कहा गया है। बाइबिल के नये व्यवस्थान (न्यूटेस्टामेंट) में लिखा है।*

'ब्लेसिड बी भी पुअर, फ़ार युअर्ज़ इज़ द किंगडम आव गाड'

मुझे सदा यह कथन अत्यन्त थोथा लगा है, जो शायद ग़रीबों को उनकी ग़रीबी सह्य बनाने के लिए अफ़ीम के रूप में सदा पिलाया जाता रहा है। जैसा कि मैंने कहा कश्मीर में इसकी विडम्बना और भी स्पष्ट होकर मेरे सामने आयी।

'पत्थर-अलपत्थर' में मैंने इसी चिर-सत्य को यथार्थ की कसौटी पर कसते हुए, इसकी विडम्बना को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

हसनदीन एक अत्यन्त निरीह ग़रीब और अपने हर भले-बुरे का निमित्त भगवान को मानने वाला परम आस्थावान व्यक्ति है। उपन्यास के पहले परिच्छेद में वह खुदा के हुज़ूर में झुका हुआ दुआ माँग रहा है और अंतिम परिच्छेद में भी सजदे में नत हुआ माँगता दिखायी देता है, लेकिन वह खुदा, वह रब्बुल आलमीन, वह दीनबन्धु, वह दीनानाथ अपने परम भक्तों को उनकी आस्था का जो पुरस्कार देता है, हसनदीन की दुर्दशा उसे भली-भाँति उजागर करती है। जब तक निरीह और ग़रीब मज़दूर-किसान अपने दुखों, कष्टों और विपत्तियों का कारण केवल अपने बुरे कर्मों—याने उनका दण्ड देने वाले भगवान—को मानते रहेंगे, उनका कारण सोचने और उन्हें दूर करने के बदले दुआ में सर झुकाते रहेंगे, वे निरन्तर पिसते रहेंगे।

और घूम-फिरकर हम उसी वर्तमान आर्थिक, सामाजिक और

***ग़रीबो ! तुम धन्य हो, क्योंकि तुम ईश्वर के राज्य के अधिकारी हो।**

राजनीतिक व्यवस्था और उसके वांछित परिवर्तन की बात पर आ जाते हैं, जिसके सम्बन्ध में 'गिरती दीवारें' से लेकर 'पत्थर-अलपत्थर' तक मैंने लगातार लिखा है।

जहाँ तक पत्थर-अलपत्थर' की कला और शैली का सम्बन्ध है, भाषण देना या लम्बी-लम्बी बहसें किसी कथाकृति में दिखाना मुझे अभीष्ट नहीं रहा। जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ, मैंने हमेशा कथानक, पात्रों के चरित्र-चित्रण, घटना-प्रसंगों तथा वर्णनों के माध्यम से कहा है। जहाँ तक विभिन्न समस्याओं तथा सत्यों के उद्घाटन का प्रश्न है, मैं 'पत्थर-अलपत्थर' को अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास मानता हूँ। इस छोटी-सी कथाकृति के थोड़े से घटना-प्रसंगों तथा चित्रण-वर्णन के माध्यम से मैंने धर्म, समाज, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था—सभी के बारे में अपने विचारों को सांकेतिक ढंग से पूरी तीव्रता से रखने का प्रयास किया है। अपने प्रयास की सफलता या असफलता के मूल्यांकन का अधिकारी मैं नहीं हूँ, लेकिन व्यक्तिगत रूप से मैं इस उपन्यास से पूर्णतः संतुष्ट हूँ। अगर ध्यान से देखें तो हमारे समाज में न हसनदीन जैसे लोगों की कमी है और न खन्ना साहब और हरनामसिंह जैसे लोगों की। ये तीनों कश्मीर में ही नहीं, हर जगह, हर शहर और हर कस्बे में मिल जायेंगे। कश्मीर के देहात में चूंकि यह विषमता बड़े ही नुमाइयाँ रूप में सामने आयी, इसीलिए मैंने इसे कश्मीर के परिपार्श्व में रखा, नहीं तो यह देश में कहाँ विद्यमान नहीं है।

मैं आस्तिकता का विरोधी नहीं, मैं विरोधी हूँ आस्तिकता के आवरण में आवृत्त अंध-विश्वास तथा रूढ़िग्रस्तता का, जो व्यक्ति की बुद्धि को कुंठित करके उसे पुरुषार्थ के पथ से विरत करती है तथा शोषण और अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना को जगने नहीं देती।

कुछ आलोचकों ने मेरे उपन्यासों को प्रकृतवादी तथा कुछ ने

यथार्थवादी कहा है। दिलचस्प बात यह है कि एक ही उपन्यास को कुछ लोगों ने प्रकृतवादी और कुछ ने यथार्थवादी कहा है। कुछ लोगों को मेरे यहाँ कल्पना की नितान्त कमी दिखायी देती है और कुछ को मेरी कला कैमराई कला जान पड़ती है।

प्रकृतवाद और यथार्थवाद की बहस में न पड़कर मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि मैं अपने यथार्थवाद को आलोचनात्मक यथार्थवाद (Critical Realism) कहूँगा—समाज के यथार्थ को उसके उभरेपन के साथ व्यक्त करते हुए, मैं व्यंग्य-विद्रूप और हास्य के माध्यम से उसकी आलोचना करता हूँ। जब आलोचक मेरे उपन्यासों में अन्तर्निहित सत्य को न पकड़ कर, केवल उसके बाह्य रूप को देखते हैं तो उन्हें वह कोरा प्रकृतवाद दिखायी देता है। हालांकि प्रकृतवाद में आदर्श, उद्देश्य अथवा आलोचना हीन चित्रण-मात्र होता है। मेरे यहाँ ऐसा नहीं है। प्रकट में प्रकृत दिखायी देने वाले चित्रण में जो यथार्थ अन्तर्निहित रहता है, उसे पाने के लिए उपन्यासों को गहराई से पढ़ना आवश्यक है, क्योंकि कोई कलाकृति लेखक ही से नहीं पाठक (और आलोचक) से भी श्रम और सूझ-बूझ की माँग करती है।

कुछ समकालीन उपन्यासकारों ने मेरी कला को मूर्ति पर रेंगते हुए उस कीड़े की कला-जैसा कहा है, जो अपने पथ के तार सरीखे मार्ग और उसकी हर बारीकी को तो देखता है, पर मूर्ति की भव्यता को नहीं देख पाता। कुछ बन्धुओं ने मेरे उन्यासों की 'नन्हीं-नन्हीं निरर्थक तफ़सीलों,' 'अति साधारण घृणित जीवन' और उसमें घिरे हुए 'रीढ़ रहित,' 'ढुलमुल कमज़ोर और अत्यन्त साधारण मानवों' का उल्लेख कर 'साहित्य के आस्वादन में हृदय के लोकोत्तर चमत्कार और तृप्ति,' उसके 'आत्मा को अपील करने और छूने,' 'जीवन के व्यापक दृष्टिकोण,' 'आध्यात्मिकता और उन्नयन' की बात की है। मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर रूस के प्रसिद्ध यथार्थवादी उपन्यासकार गोगोल के शब्दों में केवल इतना

कहूँगा कि उन नन्हीं-नन्हीं निरर्थक तफ़सीलों और उन छोटे-छोटे अकिंचन, अति हेय पात्रों को, जिनसे हमारा जीवन-पथ अटा पड़ा है और जिन्हें आसमान में लगी हुई हमारी दृष्टि देखकर भी नहीं देख पाती, उस दैनिक जीवन की दलदल से निकाल, बना-सँवार पाठकों की अन्यमनस्क, उदासीन आँखों के सामने इस प्रकार रखना कि वे उन्हें बरबस देखने और उनका नोटिस लेने को विवश हो जायँ, कम कष्टसाध्य नहीं; कि सूर्य की भव्यता का दिग्दर्शन कराने वाली दूरबीन के मुक़ाबिले में नन्हें-नन्हें अदृश्य, अकिंचन कीटाणुओं को दिखानेवाली खुर्दबीन कम महत्वपूर्ण और उपादेय नहीं; कि जीवन के किसी साधारण खाके में रंग भर कर उसे कला की उत्कृष्टता प्रदान करने के लिए आत्मा की उतनी ही गहराई दरकार है, जितनी कि उसकी महानता और व्यापकता का दिग्दर्शन कराने के लिए।

रही कल्पना की बात तो मैं उस कल्पना को कमज़ोर कल्पना मानता हूँ जिसका पता पाठक को चल जाय। मैं उस कलाकृति को उत्कृष्ट मानता हूँ, जो चाहे शत-प्रतिशत काल्पनिक हो, लेकिन पाठक को एकदम प्रकृत और यथार्थ दीखे। कहाँ यथार्थ है और कहाँ कल्पना, मैं अपने पाठकों को इसका पता नहीं चलने देता। जब मेरी उन रचनाओं को, जिनमें कल्पना का प्रचुर समावेश रहता है, पढ़ने वाले प्रकृतवादी कहते हैं तो मुझे अपनी सफलता पर प्रसन्नता होती है। मैंने जीवन को खूब देखा है और जब मैं कल्पना से भी कोई घटना अथवा पात्र गढ़ता हूँ तो उसको ऐसे चित्रित करता हूँ जैसे कि वह मेरा अनुभूत हो। 'गर्म राख' की ही कई काल्पनिक घटनाओं के बारे में मित्रों ने कहा है कि वे मैंने अपने ही जीवन से ली हैं, कुछ तो इस बात की साक्षी तक देने को तैयार हैं कि वह सब उनके सामने हुआ। मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे इससे हमेशा खुशी हुई है, क्योंकि मैं इसे कला और चित्रण का बड़ा गुण मानता हूँ।

रवि ठाकुर ने कवि कालिदास के सम्बन्ध में कहीं लिखा है कि न जाने कितना गरल स्वयं पीकर महाकवि ने रसिकों को अमृत पिलाया है। हिन्दी के कुछ कलापारखी आज के संघर्षमय जीवन में रत लेखक से भी कुछ ऐसी ही वांछा रखते हैं। चाहते हैं कि वह स्वयं तो गले तक डूबा, कीचड़ में लथपथ रहे, पर किनारे पर खड़े उनको उस कीचड़ का छींटा तक न लगने दे। उनके हाथों में चुपचाप कमल तोड़-तोड़-कर देता जाय, जिनके रंग, रस और गन्ध से शराबोर होकर वे जीवन के रोग, शोक और पीड़ा को भूले रहें। लेकिन प्रश्न तो यह है कि आज के संघर्षमय युग का कथाकार किसके लिए लिखता है? कालिदास के समकालीन महाराजाओं का स्थान लेने वाले आज के सेठ-साहूकारों और अभिजात वर्गीय साहित्यिकों अथवा आलोचकों के लिए या अपने ही जैसे संघर्ष में रत सहस्रों मानवों के लिए। कालिदास और उसके समकालीन कवि राजाओं और महाराजाओं के आश्रय में रहकर उन्हीं के सुख के लिए साहित्य का सृजन करते थे और प्रकट है कि राजाओं को रोग, शोक, दुख, दैन्य, जीवन की छोटी-छोटी तफ़सीलों और झुँझला देने वाली— मुँह में कड़वा स्वाद भर देने वाली—अति साधारण, अकिंचन घटनाओं से क्या काम? हमारे कुछ कलापारखी अपने-आप को उन राजाओं के रूप में ही देखते हैं और लेखक से वैसी ही आशा रखते हैं। पर यदि साहित्यिक उनके लिए नहीं लिखता, उस कीचड़ में लथपथ अपने-जैसे सहस्रों दूसरे लोगों के लिए लिखता है, तो प्रकट है कि वह उन्हें कमल का सौंदर्य नहीं, तालाब में फ़ैली हुई जड़ें, कीचड़, फिसलन, गढ़े और वह सब कुछ दिखायेगा, जिससे वे तालाब को साफ़ करना चाहते हैं— वह सब कुछ जो कि दस-पाँच कमल चाहे उगाता हो, रोग के कोटिशः कीटाणु और सड़ाँध भी पैदा कर रहा है।

जहाँ तक कालिदास और रवि बाबू का सम्बन्ध है, उनकी कृतियों

की महानता से मुझे इन्कार नहीं, मेरा केवल यही निवेदन है कि अपने सम्पन्न वातावरण में वे वही दे सकते थे, जो उन्होंने दिया।

जहाँ तक मेरे उपन्यासों के शिल्प और उनकी कला का सम्बन्ध है, यद्यपि पाँचों उपन्यासों के शिल्प और शैली में अंतर है और उन पर अलग-अलग से विस्तारपूर्वक लिखा जा सकता है, पर एक बात सब के लिए समान रूप से कही जा सकती है। मैंने इस बात का खयाल रखा है कि जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ, यथासम्भव संकेत रूप में, मनोरंजक और कलात्मक ढंग से कहूँ। क्योंकि सिद्धान्तों तथा विचारों को सीधे ढंग से ही रखना हो तो इसके लिए उपन्यास लिखने की ज़रूरत नहीं। वैसा तो निबन्ध अथवा व्याख्यान द्वारा बखूबी किया जा सकता है। उपन्यास की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है कि वह मनोरंजक ढंग से जीवन को देखने और लेखक के विचारों को जानने में सहायता देता है। मेरे निकट सफल उपन्यास की यही कसौटी है कि पाठक उसे पढ़ता जाय और उसे पता न चले कि लेखक अपनी इच्छा के अनुसार उसे कुछ दिखा रहा है अथवा जीवन का कोई सूत्र दे रहा है। सफल उपन्यास से यह अपेक्षित है कि वह पाठक का मनोरंजन ही न करे, उसे सोचने पर भी विवश करे और ज्यों-ज्यों पाठक सोचे उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचे, जिन पर कि लेखक उसे पहुँचाना चाहता है।

कला और शिल्प के इसी उद्देश्य को मैंने सदा अपने सामने रखा है, पर मेरी कुछ सीमाएँ भी हैं और मैं उन्हें भी खूब जानता हूँ। अपने ही इस उद्देश्य में मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ, यह कहना मेरे लिए कठिन है, इसे तो मेरे आलोचक और उनसे ज़्यादा मेरे पाठक ही बता सकते हैं।

●

अश्क के उपन्यास : एक विवेचन

●

शिवनारायण श्रीवास्तव

प्रेम चन्द का सूक्ष्म निरीक्षण एवं यथार्थ जीवनानुभव लेकर उपेन्द्रनाथ अश्क हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में अवतरित हुए। उनमें छोटे-छोटे घटना-प्रसंगों तथा परिचित वातावरण एवं परिस्थितियों के व्यंजक वर्णन की अपूर्व क्षमता है। निम्न-मध्यवर्ग की जीवन-रीति स्वभाव-संस्कार, विचार-पद्धति तथा विभिन्न प्रकार की कुंठाओं एवं उनके प्रभावों को परखने की उनमें पैनी दृष्टि है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अश्क किसी राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक पूर्वग्रह से ग्रस्त नहीं हैं और उन्होंने केवल चित्रण का प्रयास किया है। यद्यपि अधिकांश आधुनिक लेखकों के समान उनमें भी आत्मश्लाघा एवं अहंकार की कमी नहीं है, किन्तु उन्होंने अपने उपन्यासों में अपने को अधिकतर तटस्थ ही रखा है।

अश्क का पहला उपन्यास 'सितारों के खेल' सन् १६४० में प्रकाशित

हुआ था। इसमें आधुनिक ढंग के रोमानी प्रेम की कथा वर्णित है। यद्यपि इस उपन्यास में भी व्यक्ति एवं वातावरण के सजीव चित्र मिलते हैं, किन्तु अश्क की कीर्ति का वास्तविक स्मारक उनका दूसरा उपन्यास 'गिरती दीवारें' ही सिद्ध हुआ। यह १९४७ में प्रकाशित हुआ और इसमें लेखक की यथार्थ वर्णन-प्रतिभा अपने उत्कर्ष पर पहुँची हुई दिखायी पड़ती है। यह प्रायः ७०० पृष्ठों का बड़ा उपन्यास है, जिसके (द्वितीय संस्करण के) आरम्भ में २१ पृष्ठों की भूमिका है, जिसमें लेखक ने अपने पाठकों और आलोचकों की खबर ली है और अपने दृष्टिकोण समझाते हुए उपन्यास की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। पुस्तक के अन्त में शिवदान सिंह चौहान तथा शमशेर बहादुर सिंह द्वारा लिखित आलोचनाएँ भी जोड़ दी गयी हैं। इनसे कृति का प्रचारात्मक मूल्य भले ही बढ़ गया हो, किन्तु लेखक की व्यग्रता, असहिष्णुता, अविश्वास एवं संयम का अभाव आदि भी प्रतिबिम्बित हो उठे हैं। अच्छा होता कि कृतिकार स्वयं न बोलकर कृति को ही बोलने देता।

इस उपन्यास में निम्न-मध्यवर्ग के एक अत्यन्त भावप्रवण, किन्तु साधारण व्यक्ति के यौवन के प्रारम्भिक वर्षों (२० से २५ तक) के जीवन का विशद चित्रण करने का प्रयास किया गया है। लेखक के अनुसार कहानी उसमें महत्व नहीं रखती, महत्व रखता है निम्न-मध्यवर्ग के वातावरण का चित्रण और उस अँधेरे में अपनी प्रतिभा का विकास-पथ खोजने वाले अति भाव-प्रवण युवक की तड़प और उसका मानसिक विकास! दूसरी बात, जिसे लेखक के अनुसार हमें स्मरण रखनां चाहिए, वह है उपन्यास का यथार्थवाद! 'सितारों के खेल' समाप्त करते ही मैंने तय किया कि वैसा गढ़ा-गढ़ाया उपन्यास अब मेरी कलम से दूसरा न आयेगा, कि उपन्यास यथार्थ के निकट रहेगा। जीवन में जैसे आदमी चलता है, बढ़ता है और आगे-पीछे की सोचता है, वैसे ही इसका नायक भी चले, बढ़े और सोचेगा। और

चूँकि जीवन धुएँ-धुंध, गर्द-गुबार, कूड़े-करकट, कीचड़-दलदल से अटा पड़ा है और मानव पासे का सोना न होकर अष्ट-धातु का मिश्रण है, अतएव उपन्यास जीवन को उसकी कुरूपताओं-सुरूपताओं के साथ ग्रहण करेगा, तब मानव की मानसिक गर्त के अन्धी खाइयों और देवत्व की झाँकयों को भी दिखाता चलेगा।' इसी दृष्टि से लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उपन्यास में नियोजित असंख्य लघुप्रसंग और तफ़सीलें अपना महत्व रखती हैं, क्योंकि वे ही हमारे व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होती हैं। उपर्युक्त उद्देश्यों में लेखक पूर्ण सफल रहा है। उसने अपने कथा-नायक को जीवन के प्रवाह में लाकर छोड़ दिया है और वह उसी प्रवाह के अनुरोध से बहता चला गया है। उसके तथा पार्श्ववर्ती परिस्थितियों के ऊपर लेखक का नियन्त्रण अत्यल्प है। जीवन को उसके यथार्थ परिवेश में चित्रण करने की दृष्टि ही प्रमुख है। सैकड़ों कुंठाओं से ग्रस्त, निम्न मध्यवर्गीय जीवन प्रत्यक्ष-सा हो उठा है। वास्तव में हिन्दी उपन्यास की विकास-यात्रा का यह एक अभिनन्दनीय मोड़ है।

यह उपन्यास १६३५-४० के पंजाब के निम्न-मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। कथा-नायक चेतन एक शराबी एवं उग्र स्वभाव के पंडित शादीराम का मँझला लड़का है। कथा-प्रारम्भ के समय चेतन बी० ए० पास करके किसी स्कूल में अध्यापक हो चुका है। वयःसन्धि के प्रथम उल्लास में उसका सहज स्नेह कुंती से हो गया था, जिससे विवाह की कामना उसके हृदय में हिलोरें ले रही थी। किन्तु उसके पिता बिना उसकी इच्छा जाने ही—अपनी इच्छा प्रकट करने का चेतन में साहस भी न था— उसकी शादी पंडित दीनबन्धु की लड़की चन्दा से तय कर देते हैं, जिसे चेतन नहीं पसन्द करता। अतः वह जालन्धर के कल्लोवानी मुहल्ले से भागकर लाहौर पहुँचता है और कठिनाइयों का सामना करते हुए एक पत्र का उप-सम्पादक नियुक्त हो

कर कार्य करने लगता है। उप-सम्पादकत्व की चक्की में पिसते हुए वह कहानीकार-उपन्यासकार बनने की सावें मन में दबाये हुए है। चंगड़ मुहल्ले (जहाँ चेतन रहता था) के उस गन्दगी भरे वातावरण में प्रकाशो और केसर नाम की दो लड़कियाँ उसके जीवन में कुछ खलबली पैदा कर देती हैं और वह विवाह कर लेना ही उचित समझता है। चंदा से विवाह होने पर वह नीला—चंदा की चचेरी बहन—के सम्पर्क में आता है, जिसे उसने पहले-पहल, जब वह चन्दा को देखने गया था, देखा था। यह नीला उसके जीवन में हर्ष-विषाद की नीली रेखा की भाँति परिव्याप्त है। नीला का आकर्षण चेतन को ससुराल जाने के लिए प्रेरित करता रहा और नीला अपने जीजा के अधिकाधिक समीप आती चली गयी, किन्तु एक छोटी-सी भूल—अत्यन्त मानवसुलभ भूल—के कारण नीला और उसके बीच एक दीवार खड़ी हो जाती है। चेतन लाहौर लौट जाता है और नयी उमंग से अपने उपन्यास की रूपरेखा तैयार करता है। इसी बीच उसकी भेंट कविराज रामदास से होती है, जिनकी छद्म उदारता के जाल में फँसकर वह नौकरी छोड़ देता है और कविराज के साथ शिमला चला जाता है। कविराज उसे ५० रुपये मासिक पर 'बाल-चिकित्सा' की पुस्तक लिखने के लिए नियुक्त करते हैं। उपन्यास का लगभग आधा भाग कविराज की परिष्कृत शोषण-वृत्ति, उदारता के नीचे छिपे कमीनेपन, उनके चंगुल में पड़े चेतन की कुढ़न, लाचारी, विषमताओं तथा संगीतज्ञ और अभिनेता बनने के विफल प्रयासों आदि के विस्तृत वर्णन से भरा पड़ा है। घर से पत्र पाकर वह नीला के विवाह में सम्मिलित होता है—उस नीला के विवाह में, जिसकी आराधना वह आरम्भ से ही करता आ रहा है, जिसे वह चाहता है, डेढ़ वर्ष के वैवाहिक जीवन के बावजूद चाहता है। 'उसकी उदास मुस्कान, उसकी उन्मन दृष्टि, उसके पीले मुख, उसके शरीर के एक-एक अंग को उसी शिद्दत से चाहता है, जिस

शिद्दत से उसे उसने उस दिन चाहा था, जब वह अपनी भावी पत्नी को देखने आया था और उसने नीला की चंचल मूर्ति देखी थी। उसकी चाहना और उसकी शिद्दत में ज़रा भी तो कमी नहीं आयी थी। बुद्धि, धर्म, नैतिकता, समाज, विवाह—यह सब दीवारें, जो यथार्थ में उसकी चाहना को घेरे थीं, कल्पना में गिर गयी थीं। और उसके प्रेम की लौ, जिसे फ़ानूस की बिल्लौरी दीवाल ने धुँधला कर रखा था, उसके टूट जाने पर स्पष्ट ही चमक उठी थी।'[१] नीला का विवाह रंगून में काम करने वाले एक अधेड़, कुरूप मिलिटरी एकाउण्टेण्ट से होता है। चेतन के प्रयास करने पर भी नीला इस बार उससे अधिक नहीं बोलती और अन्त में अपने इस जीजा जी से क्षमा माँग कर विदा होती है। उपन्यास का अन्त एक प्रकार की करुणा से परिपूर्ण है। एक हल्की-सी टीस, कुछ हल्का-सा खेद पाठक के मन को उदास कर जाता है।

चेतन निम्न-मध्यवर्गीय युवक की कुंठाओं का एक जीवन्त प्रतीक है। अपने रक्त में युगयुगीन रूढ़ मान्यताओं का संस्कार लिये इस युवक का बचपन अर्थाभाव एवं उग्र शराबी पिता की डाँट-फटकार, मार-पीट आदि के दमघोंट वातावरण में बीता था, जिसके कारण बचपन से ही उसके अन्तर में अनेक ग्रन्थियाँ पड़ गयी थीं। 'उसकी दशा उस मृग-शावक की-सी थी, जिसकी टाँगें जन्म ही से निर्बल हों और जो अपने मन की समस्त चंचलता के बावजूद दुनियाँ की रंगीनी को मुटर-मुटर तकता और कुलाँचें भरने की इच्छा को मन-ही-मन दबाकर रह जाय।' उसने बचपन में एक अच्छा कवि, लेखक, चित्रकार, संगीतज्ञ, अभिनेता, वक्ता, सम्पादक और न जाने क्या-क्या बनने का स्वप्न देखा था, किन्तु परिस्थिति-वैषम्य ने कभी भी उसको खुलकर

१—'गिरती दीवारें' पृष्ठ ७०८ (द्वि० सं०)

आत्माभिव्यक्ति का अवसर नहीं दिया। उसने जब-जब कला की ओर हाथ बढ़ाये तो अतिरिक्त भावुकता, संकोच, संशय, हीनता की भावना आदि के कारण उसके हाथ असफलता ही लगी। उसके जीवन की सबसे बड़ी ट्रेजिडी उसकी अत्यधिक भाव-प्रवणता और उससे उद्भूत क्षोभ था। सामान्य निम्न-मध्यवर्ग की 'मोटी खाल' उस पर नहीं चढ़ सकी थी और इसीलिए सूक्ष्मतम संवेदनाएँ उसके मन को झकझोर जाती थीं। यौन-कुंठाओं तथा सामाजिक औचित्य की भावना के संघर्ष-स्वरूप उसके आचरण का बड़ा स्वाभाविक चित्रण स्थान-स्थान पर मिलता है। उसकी स्वाभाविक काम-वासना उसे कुंती, प्रकाशो, केसर, नीला, मन्नी की ओर अग्रसर करती है और लुके-छिपे उनके शरीर-स्पर्श में वह रोमांच एवं सुख का अनुभव करता है, किन्तु संस्कार के पत्थर से दबा हुआ उसका मन दूसरे ही क्षण ग्लानि से भर उठता है—'इधर-उधर खेतों में मुँह मारना, उगती-बढ़ती पौध को दूषित करना, पकड़े जाने पर दंड पाना, अपमानित होना—क्या सभ्य सुशिक्षित, सुसंस्कृत मानव के लिए यही उचित है?' इसी मनोवृत्ति की प्रेरणा से उसने अपनी साधों की सजीव प्रतिमा—नीला के पिता से उसके विवाह की आवश्यकता की ओर संकेत किया था, जिसके परिणामस्वरूप वह बेचारी एक अधेड़ व्यक्ति से ब्याह दी गयी। वयःसन्धि की उमंग में उसने कुंती को प्यार किया, किन्तु उसके गले पड़ी चन्दा, जिसको 'मोटी-मुटल्ली,' 'ढीली-ढाली' घोषित करके उसने ब्याह करने से इन्कार कर दिया था। और जब चन्दा आ ही गयी तो उसने भरसक उसके साथ पतिवत् निर्वाह का प्रयास भी किया। अनीति, अत्याचार, छल, कपट आदि के प्रति उसके मन में प्रबल विरोध की भावना जगती है, किन्तु अपनी कमज़ोर मनःस्थिति के कारण वह विरोध कर नहीं पाता और उसका असफल क्रोध प्रायः आँसू और कुढ़न के रूप में परिवर्तित होकर प्रकट होता है। अपने पिता शादीराम, उनके मित्र देसराज,

अपने सम्पादक महोदय, कविराज रामदास आदि व्यक्तियों के प्रति उसके मन में क्रोध का तूफ़ान-सा उठ खड़ा होता है, किन्तु वह निरुपाय-सा बना रह जाता है और कुछ कह नहीं पाता। परिणामस्वरूप वह रात-दिन अपमान, असफलता, अभाव, हीनता की अनुभूति से घुटता रहता है। लेखक ने बड़े ब्योरे के साथ चेतन की आर्थिक-पारिवारिक स्थिति, उसके स्वभाव-संस्कार, शारीरिक-मानसिक संगठन, उसकी आशा-आकांक्षा, नैराश्य और उदासी, चिन्ता और घुटन, दुख और दर्द आदि का वर्णन किया है, जिसके कारण उसका चरित्र विभिन्न पक्षों से अनावृत होकर अत्यन्त विश्वसनीय बन गया है। इस चरित्र को रूप देने में लेखक ने अपूर्व कलात्मक निःसंगता का परिचय दिया है। एक परिस्थितिविशेष में चेतन को रखकर लेखक तटस्थ-सा हो गया है और परिस्थितियों की प्रतिक्रिया को ही तटस्थ-भाव से अंकित करता चला गया है। उसकी छोटी-छोटी जीवन-घटनाओं तथा उसके भाव-विचार तरंगों को मार्मिक ढंग से वर्णित करके ही लेखक ने संतोष माना है। वास्तविक यथार्थवादी कला भी यही है।

चेतन को केन्द्र बनाकर लेखक ने अन्य अनेक मध्यवर्गीय व्यक्तियों के जीते-जागते चित्र अंकित किये हैं। इस वर्ग से अश्क का उसी भाँति निकट परिचय है, जिस भाँति प्रेमचन्द का किसानों-मज़दूरों से था। यही कारण है कि इस उपन्यास का कोई भी पात्र ऐसा नहीं है, जिसे हम कृत्रिम, अयथार्थ अथवा कपोलकल्पित कह सकें। चेतन के अतिरिक्त उसके बड़े भाई रामानन्द, जिन्हें 'घर के सुख-दुख तो दूर रहे अपनी परेशानियाँ भी छू न पाती थीं,' जिनकी निर्लिप्तता को 'पिता की डाँट-डपट, मार-पीट, माँ के गिले-शिकवे, कोसने-उलाहने, पत्नी के ताने-मेहने और रोना-रूठना' आदि बातें कभी भंग न कर पाती थीं; चेतन के क्रोधी और शराबी पिता पंडित शादीराम, जो रिलीविंग ड्यूटी में एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन जाते हुए जब जालन्धर से

गुज़रते तो घर में गाली-गलौज, मार-पीट का हंगामा-सा मच जाता; दुखों और ग़मों की मारी, सब्र और उदारता, पुत्र-स्नेह और पतिनिष्ठा की प्रतिमूर्ति, चेतन की माँ, जो आजीवन शराबी पति की गाली, मार तथा कामुकता का शिकार बनी, अभाव में ही बच्चों को पालती-पोसती रही; बात-बात में मायके जाने की धमकी देने वाली, झगड़ालू तथा कर्कश स्वभाव वाली चेतन की भाभी; उसकी पत्नी चन्दा—गदराये मांसल शरीरवाली, सीधी-सादी, भोली-भाली, भावुक और उदार, किन्तु सुस्त और मन्दबुद्धि वाली नारी, जिसे चेतन ने कभी प्यार नहीं किया; चेतन की साली नीला—'सुडौल सुगठित अंग, तीखा लम्बा चेहरा, भरे गाल, जिनमें हँसते समय गढ़े पड़ जाते थे, बड़ी-बड़ी मुस्कराती आँखें और वयःसन्धि को पार करता और रेखाओं को उभारता शरीर'—जिसने अपने चुलबुलेपन तथा स्नेह से सहज ही उसे अपनी ओर आकर्षित कर लिया था; चेतन के जीवन में आने वाली अन्य नारियाँ केसर, प्रकाशो, मन्नी, शोषक वर्ग के निहायत मिठबोले प्रतिनिधि धूर्त कविराज, जो परोपकार की मूर्ति बने हुए जोंक की तरह नये साहित्यकारों की प्रतिभा को चूसकर मोटे होते रहते हैं; दूसरों की कविताओं को अपने नाम से सुनाकर सुर्ख़रू होने वाले शायर हुनर साहब तथा अन्य दर्जनों पात्र इस उपन्यास में बड़ी सजीवता से अंकित किये गये हैं। ये हमारे बीच उठने-बैठने, चलने-फिरने, हँसने-रोने वाले पात्र हैं और हम सहज ही इन्हें पहचान लेते हैं। छोटे-छोटे ब्योरों तथा प्रसंगों के द्वारा इनके यथार्थ अंकन का कौशल अनुपम है। इनकी रूपाकृति, वेशभूषा, चाल-ढाल, आचार-व्यवहार, भावना-विचार आदि ऐसी सुस्पष्ट रेखाओं में चित्रित हैं कि वे हमारे मानस-नेत्रों के समक्ष खड़े-से दिखायी देते हैं। एक ही उपन्यास में इतने विभिन्न प्रकार के पात्रों का चित्रण प्रेमचन्द के अतिरिक्त हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है।

पात्रों के साथ-ही-साथ वातावरण-चित्रण में भी यथार्थवादी कला पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँची हुई परिलक्षित होती है। जालन्धर के बाज़ार और बस्तियाँ, सड़कें और गलियाँ, कुएँ पर की भीड़-भाड़, चिल्ल-पों, झगड़ा-टंटा, निम्न-मध्यवर्गीय परिवारों के जर्जर, सीलनदार घर, स्कूल के विद्यार्थी और अध्यापक, बस्ता लिये स्कूल से घर लौटने वाली लड़कियों के झुण्ड आदि अपने यथार्थ परिवेश में हमारे नेत्रों के सामने झूल जाते हैं। इसी प्रकार अनारकली के पास ही बसे लाहौर के चंगड़ मुहल्ले का भी यथार्थ एवं व्यंजक वर्णन किया गया है। म्युनिसिपल कमेटी के भंगी और भिश्ती के बावजूद घोड़ों के अस्तबलों, गन्दी गाड़ियों के अहातों, गूजरों, चंगड़ों, भंगी तथा चमारों के घरों के कारण सर्वदा गन्दगी भिनकाता हुआ वह मुहल्ला आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो उठा है। इस मुहल्ले के कच्चे घरों में बसने वाले स्त्री-पुरुष, उनके लड़ाई-झगड़े, उनकी गरीबी आदि के बड़े ही स्वाभाविक चित्र उपन्यास में अंकित हैं। इसी प्रकार चेतन को शिमला ले जाकर वहाँ के विभिन्न स्थानों, बस्तियों, होटलों, सड़कों, क्लबों आदि के अनेक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। दृश्यों तथा परिस्थितियों के वर्णन में छोटी-छोटी तफ़सीलों के द्वारा संश्लिष्ट चित्र देने का प्रयास है। इन वर्णनों में आद्यन्त एक प्रच्छन्न व्यंग्य निहित है। वातावरण के सहज-स्वाभाविक वर्णन ने भी इस उपन्यास को एक विशेष आकर्षण प्रदान कर रखा है।

उपन्यास के नामकरण की सार्थकता को भी समझ लेना चाहिए। ये दीवारें बहुमुखी कुंठा की दीवारें हैं, जो कि सारे निम्न-मध्यवर्गीय जीवन को घेरे हुए हैं उपन्यास के अन्त में चेतन देखता है कि—यह दीवार उसके और उसकी पत्नी के मध्य ही नहीं, नीला और त्रिलोक के मध्य भी है। न केवल यह, बल्कि कविराज और चेतन, चेतन और जयदेव, जयदेव और यादराम—इस परतन्त्र देश के सभी

स्त्री-पुरुषों, तरुण-तरुणियों, वर्गों और जातियों के बीच ऐसी अनगिनत दीवारें खड़ी हैं।[1] दीवारें गिरती नहीं, अतएव यह नाम बहुत उपयुक्त नहीं है। वास्तव में लेखक इस उपन्यास को तीन (सम्भव होता तो नौ) भागों में लिखना चाहता था, किन्तु आर्थिक कठिनाइयों एवं गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण उसे उपन्यास को 'राउंड-अप' करना पड़ा और इस प्रकार यह अधूरा-सा ही रह गया। लेखक के अनुसार अपने वर्तमान रूप में इसका नाम 'गिरती दीवारें' की अपेक्षा 'चेतन' अधिक उपयुक्त होता (चेतन नाम से इसका एक छात्रोपयोगी संक्षिप्त संस्करण अब निकल भी गया है)। लेखक ने इस नाम की उपयुक्तता एक दूसरी दृष्टि से सिद्ध करने की चेष्टा की है—'लेकिन उन स्थूल दीवारों के साथ सूक्ष्म दीवारें भी हैं, जो नायक के मन-मस्तिष्क को बाँधे हैं और जो उसके अनुभवों के बढ़ने के साथ गिरती हैं। जिनके गिरने से वह जीवन की यथार्थता को देखने और समझने में धीरे-धीरे सफल होता है। जिसके गिरने से उसके मस्तिष्क का अन्धकार दूर होता है और यथार्थता के ज्ञान का प्रकाश उसके कोने-अँतरे जगमगाता है।[2]

जहाँ तक कथानक के सौष्ठव का सम्बन्ध है, यह उपन्यास किंचित् ढीला-ढाला है। कितनी ही घटनाएँ ऐसी हैं, जिनके वर्णन के बिना भी न तो उपन्यास की प्रभविष्णुता ही कम होती और न चरित्र अथवा वातावरण के यथार्थ अंकन में ही कोई त्रुटि आती। अनेक बिखरी हुई घटनाओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला नायक ही है। नीला और चेतन की प्रेम-कथा अवश्य कुछ दूर तक चलती है और पाठक पर अन्तिम प्रभाव भी यही कथा छोड़ जाती है। उपन्यास के इस भाग तक चेतन की कुंठा भी आर्थिक एवं सामाजिक न होकर प्रमुखतया

१—'गिरती दीवारें' (द्वि० सं०) की भूमिका।

२—वहीं।

पारिवारिक एवं यौन ही है। चेतन और चन्दा, चेतन और नीला, नीला और त्रिलोक के बीच खड़ी दीवारें यौन-कुंठा की हैं। चेतन और कविराज, जयदेव और यादराम तथा कविराज के बीच की दीवारें भले ही आर्थिक हों, किन्तु क्या चेतन की समस्याएँ आर्थिक या प्रधानतया भी आर्थिक हैं? उपन्यास को पूरा और ग़ौर से पढ़ने पर उत्तर नकारात्मक ही होगा। आर्थिक दीवारों को तोड़ देने की शक्ति चेतन में है, यदि वह असफल है तो इन यौन-कुंठा की दीवारों को तोड़ने में।

जहाँ तक इस उपन्यास के रूप-शिल्प का सम्बन्ध है, लेखक ने अनेक पाश्चात्य उपन्यासकारों के प्रभाव को स्वीकार किया है। इनमें रोमारोल्यां के 'ज्याँ क्रिस्तोफ,' गाल्सवर्दी के 'फॉर साइट सागा' और वर्जिनिया वुल्फ के 'चेतना-प्रवाह' सम्बन्धी उपन्यास प्रमुख हैं। कई पीढ़ियों की परम्परागत पारिवारिक विशिष्टताओं के साथ सामाजिक इतिहास प्रस्तुत करने की कला लेखक ने गाल्सवर्दी तथा अर्नाल्ड बेनेट जैसे उपन्यासकारों से पायी है। चेतन के मानसिक प्रवाह के लिए 'मिसेज डैलोवे' (Mrs. Dalloway) और 'वेव्ज' (Waves) का नमूना लिया है। किसी भी बाह्य उद्दीपन से चेतन के मन में विचार-तरंगें उठ पड़ती हैं और वह स्मृत्यालोक में अनेक विगत घटना-प्रसंगों को देख आता है। उदाहरण के लिए चेतन राजकुमार (कविराज रामदास के पुत्र) की आबनूस की बांसुरी देखता है तो उसे १९२९ के लाहौर कांग्रेस-अधिवेशन की याद आ जाती है, जहाँ उसने पाँच रुपये में एक आबनूस की बाँसुरी खरीदी थी। इस प्रसंग में वह अनेक बातें सोच जाता है, जिनके वर्णन ने उपन्यास के आठ पृष्ठ घेर लिये हैं। उपन्यास यद्यपि चेतन की युवावस्था से सम्बन्धित है, किन्तु 'चेतना प्रवाह' तथा 'पूर्वदीप्ति' की पद्धति के उपयोग द्वारा लेखक उसकी बाल्यावस्था तथा उसके माता-पिता से सम्बन्धित प्रायः सभी चित्र

प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ है। क्रूर पिता द्वारा बुरी तरह पिटना, उसकी प्रारम्भिक पढ़ाई, भाई साहब के लापरवाह चरित्र की व्याख्या, यहाँ तक कि अपनी माँ और पिता के यौन-सम्बन्धों का स्मरण भी चेतन करता है। इस प्रकार चेतन का वर्तमान जीवन दूर तक उसके अतीत जीवन में फैल गया है।

स्मृति के माध्यम से जहाँ एक ओर विगत जीवन के चित्रण में सुविधा हुई है, वहीं दूसरी ओर इस प्रणाली की कुछ अनिवार्य त्रुटियाँ भी इस उपन्यास में उभर आयी हैं। उपन्यास सुसंगठित न होकर किंचित् बिखरा हुआ-सा लगता है। प्रवाह सरल, अविरल एवं अबाध न होकर बीच-बीच में विच्छिन्न-विपर्यस्त-सा लगता है। पाठक को सदैव सजग-सतर्क रहने की आवश्यकता रहती है, जिसमें कहीं कथा-सूत्र उसके हाथ से खिसक न जाय। 'गिरती दीवारें' में छोटी-छोटी तफ़सीलों के द्वारा यथार्थ जीवन के अगणित चित्र तो उपस्थित किये गये हैं, इन चित्रों में बड़ी सजीवता भी है, किन्तु वस्तु-संगठन में सानुपात का अभाव बराबर खटकता है। उपन्यास का प्रायः आधा भाग केवल कविराज की धूर्तता, उसके कमीनेपन के उद्घाटन तथा चेतन का अपने संगीतज्ञ और अभिनेता होने की अक्षमता का विवरण देने में समाप्त होता है (पृष्ठ ३७१ से ७१२ तक)। बचपन में वह चित्रकार और कवि बनने का प्रयास करता है, फिर पत्रकार और उपन्यासकार, किन्तु किसी में भी वह सफल नहीं होता। कुल मिलाकर यह कहना पड़ता है कि सात सौ पृष्ठों में किये गये चेतन के बहुमुखी प्रयासों में कोई भी नाटकीय मोड़ प्रस्तुत नहीं होता। किसी हद तक यह इस उपन्यास की दुर्बलता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि जीवन में सदैव नाटकीय मोड़ वाली परिस्थितियाँ नहीं आतीं और प्रस्तुत उपन्यास जीवन के अनुकरण से अधिक और कुछ नहीं है, तो भी जीवन जैसा है वैसा ही, उसकी सम्पूर्ण विविधता के साथ उसका चित्रण कला में नहीं हो सकता

और उपन्यास चाहे कितना भी रूपहीन हो, जीवन-जैसा रूपहीन नहीं हो सकता। कलाकार को उसे सँवारना, उसे क्रम और गति देनी ही पड़ती है, उसे कुछ घटाना-बढ़ाना पड़ता ही है। बिना इसके न तो कला कला है, न उपन्यास उपन्यास,[1] किन्तु कथानक-सौष्ठव सम्बन्धी उपर्युक्त त्रुटियों के बावजूद 'गिरती दीवारें' यथार्थवादी परम्परा का एक उत्कृष्ट उपन्यास है।

अश्क के तीसरे उपन्यास 'गर्म राख' का कथानक अपेक्षाकृत अधिक सुगठित एवं सुनियोजित है। इसमें भी १९३८ ३९ के आस-पास के पंजाब के निम्न मध्यवर्गीय नागरिक जीवन के चित्रण का प्रयत्न है। यथार्थ परिवेश में उपस्थित किये गये विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों—कवि, सम्पादक, पत्रकार, अध्यापक, प्रोफ़ेसर, अध्यापिकाएँ, कांग्रेसी, कम्युनिस्ट आदि—के व्यंग्य रेखा-चित्रों के बीच जगमोहन के प्रति सत्या जी के गम्भीर प्रेम की कहानी एक निश्चि तगति से प्रवाहित होती हुई, बड़े ही दुखद एवं कारुणिक ढंग से समाप्त हुई है। जगमोहन एक साधारण निम्न-मध्यवर्गीय युवक है, जो आर्थिक संघर्षों के बीच किसी प्रकार बी० ए० कर के एम० ए० की पढ़ाई के लिए साधन की खोज में प्रयत्नशील है। उसकी मित्रता कवि चातक से होती है, जिन्हें कविता और प्रेम का मर्ज़-सा है और जो अपनी एक स्त्रियोपयोगी पत्रिका के सम्पादक भी रहे हैं। कवि चातक द्वारा प्रस्तावित एवं स्थापित 'संस्कृति-समाज' नामक संस्था के सम्बन्ध से जगमोहन का परिचय सत्या जी से होता है, जो ऊपर से बड़ी ही गम्भीर, शुष्क एवं उदासीन-सी दिखायी

—[1]'ए वर्क आफ़ आर्ट, ईवेन द मोस्ट रैम्बालिंग नावेल, इज़ नाट द सेम थिंग ऐज़ लाइफ़, इट इज़ समथिंग लाइक लाइफ़, बट ह्वाट मेक्स इट डिस्टिंक्ट फ़्रौम लाइफ़, इज़ इट्स पैटर्न।—बी० डेब्री

पड़ती हैं। धीरे-धीरे सत्या जी जगमोहन से अत्यधिक प्रेम करने लगती हैं, किन्तु जगमोहन दुरो (द्रौपदी) से प्रेम करता है और दुरो भी हरीश को प्यार करती है। सत्या जी बराबर जगमोहन के घर आती-जाती हैं, उसकी भाभी से घनिष्ठता बढ़ाती हैं और एक दिन सूने घर में बड़ी ही नाटकीय परिस्थिति में उनके शरीर के आकर्षण से विवश यन्त्र-चालित-सा जगमोहन उनका उपभोग भी करता है। बेचारी सत्या जी मुँह खोलकर विवाह की चर्चा भी चलाती हैं, किन्तु जगमोहन उन्हें अन्यत्र विवाह कर लेने का उपदेश देता है। निराश, सत्या जी अफ़्रीका के एक काले-कलूटे मेजर के साथ, जिसे उन्होंने देखा भी नहीं था, विवाह करने की सम्मति दे देती हैं। विवाह के पूर्व वे शायद अन्तिम बार जगमोहन की सहानुभूति प्राप्त करने की आशा में उससे मिलती हैं, किन्तु वह अडिग-सा बना रहता है और उनके विंवाह में सम्मिलित भी नहीं होता, यद्यपि उन्होंने इसके लिए बड़ा अनुरोध किया था। उनका पत्र पाकर भी वह उन्हें अन्तिम बार विदा नहीं दे पाता—यद्यपि वह स्टेशन तक जाकर ओट से उनकी गतिविधि को देखता रहता है—और बेचारी सत्या जी उसके अन्तिम दर्शनों की साध लिये उस काने, काले-कलूटे पति के साथ सदैव के लिए भारत छोड़ चली जाती हैं; जगमोहन अपने आचरण की प्रत्यालोचना करता हुआ व्यथित-सा घर लौट आता है और पाठक का हृदय एक अवसाद से भर उठता है।

इस प्रधान कहानी के साथ-ही-साथ अनेक अन्य पात्रों के प्रेम तथा रोमांस का वर्णन करके आधुनिक युग के निम्न-मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुषों के प्रेम, उसकी विषमता-विवशता आदि को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। आधुनिक युग का मध्यवर्गीय युवक, जो खुलकर प्रेम नहीं कर पाता और विवाह से हिचकता है, उसका कारण भी आर्थिक बताया गया है। अपनी आर्थिक स्थिति में विवाह उसे (जगमोहन को) ऐसी

बेड़ी सरीखा नज़र आता, जो उसकी आकांक्षा की हर फलांग को बाँध दे। चातक जी कहते हैं—'तुम्हारे हृदय में या तो अनुभूतिशीलता की कमी है अथवा तुम्हारे बाह्य संघर्ष में वह अपनी सौन्दर्यवृत्ति खो बैठा है। गर्म राख में सोयी चिनगारी की तरह वह अनायास चमक उठेगा।' जगमोहन दुरो के प्रति अपने प्रेम की तुलना छिपकली से करता है—

छिपकली-सी यह मुहब्बत
आज के युग की खजीली
भीरु.........................
....
है कहाँ वह प्रीति
गह कर बाँह प्रिय की
ले चले बरबस जो अपने साथ!

यही हाल सत्या जी का भी है। छिपकली-सी वे न बनना चाहती थीं। यदि पुराना ज़माना होता और वे राजकुमारी होतीं, जगमोहन उनके स्वयम्बर में आया होता तो वे निस्संकोच बढ़कर उसे वरमाला पहना देतीं, लेकिन वे तो अपने वातावरण की पेचीदगियों में पलकर युवा हुई हैं। हरीश जब फ़ैज़ की नज़्म 'मुझसे पहले-सी मुहब्बत मेरी महबूब न माँग' की पंक्ति, 'और भी ग़म हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा' की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—हमारा जीवन इतना सरल नहीं, हमारी समस्याएँ सरल नहीं, इसलिए मुहब्बत में पेचीदगी आ गयी है—प्रेम में वह अनायासपन नहीं रहा—स्पष्ट ही उनकी दृष्टि आर्थिक, राजनीतिक परतन्त्रता की ओर है। वसन्त को भी प्रेम से इनकार कब है? किन्तु इन परिस्थितियों में जब देश ग़ुलाम और ग़रीब है, प्रेम करना प्रथम कर्तव्य नहीं लगता (यद्यपि बाद में वह विवाह करने पर

राज़ी हो जाता है।)

साधारणतः लेखक के चित्रण के अनुसार प्रायः सभी प्रमुख पात्रों का प्रेम परिस्थितियों की 'गर्म राख' के नीचे दबा-सा प्रतीत होता है। किन्तु क्या सत्या जी से जगमोहन के प्रेम न करने और ठुकराने का मात्र कारण आर्थिक ही है? नहीं। वह उनसे प्रेम नहीं करता। यही तो प्रेम की विडम्बना है। पंडित रघुनाथ सत्या जी की ओर उन्मुख हैं, सत्या जी जगमोहन की ओर, जगमोहन दुरो को प्यार करता है और दुरो हरीश को और कौन जाने हरीश भी किसी अन्य को—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यरक्तः

....

इसीलिए खिन्न होकर जगमोहन भर्तृहरि के शब्दों को दुहरा उठा था 'धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च।' इस तरह हम देखते हैं कि घूम फिर कर उपन्यासकार उसी पुरातन ढाँचे की ओर आ गया है। वही प्रेमियों का शाश्वत त्रिकोण (Eternal triangle) उपन्यास का प्रमुख विषय है। आर्थिक कठिनाई तो बहाना-मात्र है। स्वयं जगमोहन सोचता है—'क्या आर्थिक कठिनाई ही उसके रास्ते की सबसे बड़ी दीवार थी? कल यदि दुरो उससे विवाह का प्रस्ताव करे तो क्या वह आर्थिक कठिनाई का बहाना बनाये? दिशाओं के बन्धन तोड़कर हरहराने वाले तूफ़ान-सा वह उठे और आर्थिक कठिनाइयों के तृणपात को अपने साथ उड़ाता ले जाय।'

किन्तु प्रेम-सम्बन्धों को जिस रूप में चित्रित किया गया है, उसमें पर्याप्त यथार्थता है। आज का प्रेम आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों के कारण सचमुच छिपकली-सा ही है। हरीश के शब्दों में यह छिपकली-सा प्रेम हमारी वासना, अज्ञान और उसी कारण पुरुष-स्त्री के सहज

सम्बन्ध पर लगी वर्जनाओं के कारण है...अनगिनत सदियों के तारीक, बहीमाना तलिस्मों के फलस्वरूप ! 'ऐसा प्रेम न रहेगा। ये इन्द्रजाल टूटते जा रहे हैं। जब भी हम पूर्णरूप से स्वतन्त्र हुए, नर-नारी के परस्पर सम्बन्धों में भी स्वतन्त्रता आयेगी। नारी 'योनि मात्र' न रहकर सहचरी और संगिनी बनेगी और समाज के विकास में पूरा योग देगी।'

पात्रों के चरित्रांकन में पूर्ण सजीवता है। कथा-नायक 'जगमोहन निम्न-मध्यवर्ग के उन लाखों युवकों में से एक था, जो बचपन में बच्चे और जवानी में युवक नहीं होते, बचपन ही से जिनपर प्रौढ़ता का रंग चढ़ जाता है। जो एक कदम आगे रखते हैं, तो दो बार सोचते हैं, फिर पीछे रख लेते हैं, और कई बार इसी आगे-पीछे में ज़िन्दगी के दिन पूरे कर देते हैं। जिनके बचपन में न खिलँडरापन होता है, न जवानी में अल्हड़पन। बचपन में सब कुछ भूलकर खेलना और जवानी में सब कुछ भूलकर प्रेम करना जो नहीं जान पाते।' इस युवक की संघर्षमय ज़िन्दगी, उसकी आशा-आकांक्षा, उसकी अतिशय संकोच-वृत्ति, उसके मानापमान, उसकी भावना-कल्पना, उसकी पलायन-वृत्ति आदि का बड़े ही सूक्ष्म ब्योरों के साथ यहाँ वर्णन हुआ है। इसी प्रकार सत्या जी की बाहरी गम्भीरता एवं रूखेपन के भीतर छिपी उनकी भावुकता, प्रेम की तीव्रता तथा प्रेम के लिए सर्वस्व निछावर कर देने की कामना आदि की बड़ी सतर्कता से चित्रण हुआ है। लेखक ने बड़ी कलात्मक निःसंगता से आद्यन्त सत्या जी के चरित्र का निर्वाह किया है। इनके अतिरिक्त हरीश, दुरो और चातक जी के चरित्र भी बड़ी स्पष्ट रेखाओं में अंकित किये गये हैं। व्यक्तियों के वर्णन में स्वाभाविकता के साथ-साथ, एक व्यंग्यात्मक सहानुभूति, जो अश्क की विशेषता है, सर्वत्र परिलक्षित होती है। अस्तंगत मंजरी के सम्पादक कवि चातक, जो परिचय या उसकी सम्भावना होते ही प्रत्येक युवती को अपनी प्रेयसी समझ लेते। 'मालती' के सम्पादक महाशय गोपालदास,

जिनकी पत्रिका में चटपटी कहानियाँ, रोमानी कविताएँ, श्रृंगार के नुस्खे, स्त्रियों की समस्याओं पर 'मालती' की ग्राहक लड़कियों के भावुकतामय लेख, 'मालती-परिवार के नये विवाहित जोड़ों अथवा नवजात शिशुओं के फ़ोटो और फिर स्त्रियों के गुप्तरोगों की औषधियों के विज्ञापन' रहते हैं। पंडित धर्मदेव वेदालंकार, जो रूप-रंग और भूषा से न पंडित लगते थे, न धर्मदेव, न वेदालंकार—कीमती सिल्क का सूट, जिसकी क्रीज़ आठों पहर ऐंठी रहती, सूट के साथ मैच करती हुई रेशमी टाई, पैरों में फ़्लैक्स के चमचमाते शू और सर पर बढ़िया सोला हैट—'वे हाल ही में इंगलिस्तान से वापस आये कोई आई० सी० एस० दिखायी देते थे, पंडित अथवा वेदालंकार कदापि नहीं, वेदालंकारी के ज़माने की यदि कोई बात उनमें दिखायी देती तो वह था उनका साइकिल पर पिछले पहिए की खूँटी से चढ़ना। उस समय जब सभी साइकिल-सवार बाँया पाँव पैडिल पर रख, दायाँ कैरियर के ऊपर से घुमा काठी पर जम जाते, पंडित धर्मदेव वेदालंकार कई कदम फुदक-फुदक कर पिछले पहिये की खूँटी से साइकिल पर चढ़ते।' साप्ताहिक वीर विक्रमादित्य के सम्पादक शुक्ला जी, जो शुद्ध खादी का कुर्ता-धोती पहनते थे, सर्दियों में उस पर पट्टी का जाकेट अथवा बन्द गले का कोट भी पहन लेते। छोटी-छोटी, होंठों के बराबर, कटी मूँछें और अन्दर को धँसे हुए कल्ले। खैनी खाना और दूसरों की कलंक-कहानियों की चर्चा करना....उन्हें बड़ा प्रिय था। कोई उनकी प्रशंसा करे अथवा गाली दे, वह मुस्कान उनके होंठों से चिमटी रहती थी। 'शान्ता विद्यालय' की प्रिन्सिपल श्रीमती शान्ता देवी 'प्रभाकर' साहित्य-रत्न, जो यौवन की प्रथम उमंग में जीवन का रस लूटने वाले एवं भ्रमर-वृत्ति युवक के प्रेम का शिकार बन गर्भस्थ बालक की रक्षा एवं लोक-लज्जा के डर से एक कोयले के व्यापारी से ब्याही जाकर अपना प्राइवेट विद्यालय भी चला रह ' हैं और बच्चों की बटैलियन-भरी गृहस्थी भी सम्हाल रही हैं।

इसी प्रकार हिन्दी-संस्कृत के अध्यापक 'नीरव' जी, 'कंटक' जी, 'अवसाद' जी, डाक्टर घनान्द, प्रो० बैजनाथ कपूर, पंडित रघुनाथ, कॉमरेड हरीश, प्रो० ज्योतिस्वरूप, नूरुद्दीन आदि दर्जनों व्यक्तियों के व्यंग्य रेखाचित्र इस उपन्यास में अंकित हैं। इन चित्रों के अंकन में बड़ी सूक्ष्मदर्शिता परिलक्षित होती है।'

व्यक्तियों की रूपाकृति, वेश-भूषा, बोलचाल, विचार-व्यवहार आदि के अत्यन्त यथार्थ एवं स्वाभाविक वर्णन के साथ-साथ वातावरण को छोटे-छोटे व्यंजक ब्योरों के बीच प्रत्यक्ष कर देने की कला इस उपन्यास की भी विशेषता है। लाहौर का वही कृत्रिम नागरिक जीवन, सड़कों की धूल और गन्दगी, तंग गलियाँ, हौदियों और नालियों की सड़ाँध, मैले, गन्दे और वर्षों से सफ़ेदी को तरसे हुए घर, दुकानदार और खोमचेवाले यहाँ भी हैं। तत्कालीन साहित्यिक-सामाजिक जीवन, राजनीतिक कार्यविधि तथा आन्दोलन, विभिन्न ढंग के विद्यालय और स्कूल-कॉलेज तथा वहाँ का वातावरण, पत्र-पत्रिकाएँ, निम्न-मध्यवर्गीय कुटुम्ब तथा घर की अस्त-व्यस्तता आदि अनेक बातों के सजीव चित्रण का प्रयत्न किया गया है। स्थान-स्थान पर विभिन्न राजनीतिक पार्टियों की विचारधारा एवं कार्यविधि के संकेत भी इसमें मिलते हैं।

अश्क का चौथा उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' है। यद्यपि इसके नाम की मोहक शृङ्गारिकता से विदित होता है कि इसमें रोमानी प्रेम ही प्रधान होगा, किन्तु बात एकदम ऐसी नहीं है। यह लघु-उपन्यास एक नवीन भूमि पर अग्रसर हुआ है और इसके निर्माण का एक निश्चित लक्ष्य है। आज की विषम आर्थिक-सामाजिक स्थिति में महान उद्देश्यों की घोषणा से स्थापित संस्थाएँ भी अपने बाह्य आकर्षक एवं आदर्श स्वरूप को सँवारे हुए भीतर से कितनी खोखली और कुरूप होती हैं, सारे आदर्श और ऊँचे सिद्धान्त किस प्रकार नेताओं की वाणी में ही सिमट

कर रह जाते हैं और व्यवहार में संकुचित स्वार्थ, वैर-विद्वेष, ईर्ष्या-डाह आदि का ही प्राबल्य होता है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर उपन्यास की रचना हुई है।

'देव वाणी' के सम्पादक 'देव मण्डल' के संचालक और 'देव सेना' के प्रधान सेनापति श्री देवा जी (सरदार देवेन्द्र सिंह)ने मुग़लकालीन एक बड़ी जागीर के वीरान खण्डहर पर एक ऊँचा सपना लेकर 'देवनगर' की स्थापना की है। वह सपना है...'फिर तंग मकानों के पास गन्दी नालियाँ न बहें, बाग़ों की छाया में सुन्दर भवन हों, ग़रीबों में घिरा कोई अकेला मालदार, चाँदी की ईंटों को सर पर उठाये, चोरों से छिपता न फिरे, बल्कि सभी पेट भर खा, विकास के सपने देखें। दिन चढ़े किरणों के सुस्पर्श से लोग जागें, खुले माथे, मुस्कराती आँखों और फैली बाँहों से एक-दूसरे का स्वागत करें; प्रभात में जगी चिड़ियों की तरह एक-दूसरे को बुलायें; हँसें-खेलें और अपने-अपने स्वभाव के अनुसार जीवन का उश्द्देय ढूँढें।'

किन्तु अपनी प्रिय पत्नी की मृत्यु से दुखित, शान्ति की खोज में देवनगर आया हुआ संगीतसिंह कुछ महीनों में ही वहाँ के व्यक्तियों के ओछे व्यवहार से ऊब जाता है। देवा जी की पन्द्रह-सोलह साल की नन्हीं बीमार-सी लगने वाली लड़की वाणी के प्रेम में कविता लिखने वाला तीरथराम संगीत से बुरी तरह ईर्ष्या करने लगता है, क्योंकि वह देखता है कि वाणी उसी की ओर उन्मुख है। वह हरमोहन, सुदर्शन सिंह आदि का गुट बनाकर संगीत को बदनाम कर, उसे अपमानित करने का सदैव प्रयत्न करता रहता है। उन्मुक्त और पवित्र प्रेम के हिमायती देवा जी भी वाणी के इस स्नेहाकर्षण से प्रसन्न नहीं हैं। देवा जी की पत्नी, जिन्हें देव-सैनिक माता जी कहते हैं, अपने पति पर हावी हैं इसीलिए वहाँ चलती तो माता जी की है और उन्हें जो सुबह उठकर नमस्ते न करे, दिन में दो-एक बार जाकर उनके दरबार में हाज़िरी

न दे, वे उसकी दुश्मन बन जाती हैं। तीरथराम उनकी चापलूसी में रहता है, अतएव वाणी के प्रति उसके अशोभनीय आचरण को भी वह पचा ले जाती हैं। किन्तु संगीतसिंह से वे नाराज़ रहती हैं—क्योंकि वह चापलूसी नहीं कर पाता। उन्हीं के कारण देव-सैनिकों में खाई पड़ती जा रही है और वहाँ स्पष्टतया दो पार्टियाँ बन गयी हैं। एक तो तीरथराम, हरमोहन, सुदर्शनसिंह आदि चापलूसों की और दूसरी मधवार साहब, नन्दलाल आदि सच्चे एवं उत्साही कार्यकर्त्ताओं की। देवा जी ने बच्चों का जो प्रैक्टिकल स्कूल खोल रखा है, माता जी उसकी मैट्रन हैं, अतएव वहाँ भी पक्षपात, दिखावट एवं स्वार्थ की प्रबलता है। प्रैक्टिकल स्कूल का उद्देश्य तो यह था कि वहाँ सभी प्रकार के बच्चे बिना भेद-भाव के रहें और उनका स्वाभाविक ढंग से मानसिक विकास हो। किन्तु संगीतसिंह का ग़रीब नौकर गुलाम नबी वहाँ से इसलिए निकाल दिया गया कि उसमें चोरी की आदत थी। इस बुरी आदत को छुड़ाने का प्रयत्न न करके, उस बच्चे को ही बहिष्कृत कर दिया गया। रामा थापा का बच्चा भी कुछ दिन केवल प्रचार के लिए भर्ती कर लिया गया था; किन्तु अन्त में बड़ी चालाकी से उसे भी अलग कर दिया गया। 'अप्रेल फूल' बनाने के बहाने तीरथराम आदि ने संगीतसिंह को बेइज़्ज़त एवं अपमानित किया, जिससे वह अत्यधिक अशान्त हो उठा। माता जी ने वाणी को प्रैक्टिकल स्कूल के छात्रावास में रखकर उसकी भी गतिविधि को नियन्त्रित कर दिया। ऐसे दिखावटी एवं दमघोंट वातावरण से ऊबकर संगीतसिंह वहाँ से चला जाता है।

इस प्रकार इस उपन्यास में लेखक ने प्रतीक-पद्धति पर सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं की बुराइयों की ओर संकेत करने का प्रयत्न किया है। देवनगर से विदा होता हुआ संगीतसिंह सोचता है—'देवा जी सचमुच उदार स्वप्नद्रष्टा हों, लेकिन देवा जी की इच्छा और उदारता

के बावजूद देवनगर का कुछ बनने वाला नहीं, इसका मुझे विश्वास हो गया था। देवनगर मुझे उस देश-सा लगता, जिसका प्रधानमंत्री उदाराशय, स्वप्नशील और भविष्यद्रष्टा हो, पर जिसके सहकारी अवसरवादी, चाटुकार और खुशामदी हों और जिसके दफ़तरों में भ्रष्टाचार और स्वजन-पालन का दौर-दौरा हो। उस प्रधानमंत्री की अच्छाई, स्वप्नशीलता और भविष्य-दर्शन के बावजूद उस देश का क्या बन सकता है ? यदि वह एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक सारे नज़ाम को नहीं बदल सकता तो उसे एक के बाद एक समझौता करना पड़ेगा। उसके सपने और आदर्श धरे-के-धरे रह जायँगे और देश रसातल में चला जायगा।' कहना न होगा कि आज की भारतीय राज्य-व्यवस्था का यह यथार्थ विश्लेषण है। देवनगर के समान ही यहाँ भी 'दीवारों के बाहर एक ईंट पक्की है, अन्दर से सब कच्ची हैं। लीप-पोत कर सुन्दर बना दी गयी हैं।' ऊँचे आदर्शों से प्रेरित प्रतिष्ठापित, निकेतनों, आश्रमों, सदनों, बाग़ों के आन्तरिक खोखलेपन के कारणों को देखना हो तो हम देवनगर देख लें। मनुष्य की निम्नगा प्रवृत्तियाँ ऊँचे सपनों को सत्य नहीं होने देतीं। फिर बड़े सपने देखने के लिए बड़ी आँखें चाहिएँ और यदि दृष्टि संकुचित है, तो बड़े सपने कभी साकार नहीं हो सकेंगे। उपर्युक्त उद्देश्य को प्रतिफलित करने में उपन्यास का कथानक पर्याप्त सफल सिद्ध हुआ है। इस उद्देश्य-गर्भ कथानक के केन्द्र-पुरुष देवा जी हैं और उनका चित्रण अत्यन्त व्यंग्य-गर्भ है।

किन्तु कथानक में रोमानी स्वर भी नितान्त स्पष्ट है और कथा की मनोरंजकता बहुत कुछ उसी भाग पर अवलम्बित है। यहाँ भी प्रेम का त्रिकोण बन ही गया है। तीरथराम वाणी को प्यार करता है, वाणी संगीतसिंह को प्यार करती है और यद्यपि संगीतसिंह को वाणी की स्नेहार्द्रता स्वयं सरस कर जाती है, किन्तु उसका वास्तविक प्रेम

तो अपनी दिवंगत पत्नी के प्रति ही है। तीरथराम का प्रेम वासना-जनित एवं उच्छृङ्खल है, वाणी का प्रेम नवनीत-सा स्निग्ध, कोमल, पवित्र एवं मूक है, अपनी दिवंगत पत्नी के प्रति संगीतसिंह का प्रेम दाम्पत्य रस की स्मृति से करुण है। वाणी के प्रति उसका आकर्षण शरीर का नहीं सहानुभूति का है। अपने अन्य उपन्यासों के विपरीत अश्क ने इस उपन्यास में प्रेम को किंचित् भिन्न भूमि दी है, किन्तु इस प्रेमकथा का प्रभाव असन्दिग्ध है।

प्रमुखपात्रों—देवा जी, वाणी, माता जी, तीरथराम, संगीतसिंह का चित्रण सजीव एवं स्वाभाविक है। चित्रण में व्यंग्य का पुट होते हुए भी कमज़ोरियों के प्रति सहानुभूति है, निर्मम प्रहार नहीं। आरम्भ में जो झलक दिखायी पड़ती है, उसमें निरन्तर नवीन रूप-रंग भरते हुए चित्र को पूर्ण करने का प्रयत्न है। व्यक्ति-वैचित्र्य-दर्शन के लिए छोटे-छोटे व्यंजक ब्योरों का यहाँ भी प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। पात्र थोड़े हैं किन्तु देर तक दृष्टि को आकर्षित करने वाले हैं। कथानक सुगठित है और उसका विकास क्रमिक एवं संगत है। सम्पूर्ण कथा संगीतसिंह के द्वारा कही गयी है, जिसकी शैली संस्मरणात्मक है। कथा का अभिन्न अंग होने के कारण अन्य पात्रों का चित्रण करता हुआ संगीतसिंह स्वयं भी चित्रित होता गया है। वह दर्शक-मात्र नहीं, अभिनेता भी है। स्थल-स्थल पर प्रकृति के मनोरम शब्द-चित्र हैं। वातावरण के वर्णन में यहाँ भी अश्क ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण का सुन्दर परिचय दिया है। इस प्रकार कथानक-सौष्ठव, क्रमिक चरित्र-विकास, प्रकृति एवं वातावरण के यथार्थ चित्रण, स्वस्थ एवं संतुलित जीवन-दृष्टि, अनुभूति की तीव्रता एवं प्रभावान्विति—सभी दृष्टियों से यह उपन्यास पर्याप्त सफल है।

अश्क का पाँचवा उपन्यास है 'पत्थर अलपत्थर'! इसमें कश्मीर के

प्राकृतिक सौन्दर्य-वैभव के साथ-साथ वहाँ के मज़दूर-किसानों की ग़रीबी, पुलिसवालों के ज़ोर-ज़ुल्म और एक विज़िटर सेठ की हृदयहीनता के यथार्थ चित्र अंकित हैं। मज़दूर-किसानों का प्रतीक है—हसनदीन घोड़वान! इसका नामकरण काश्मीर की हिमवेष्ठित शैल-श्रेणियों के बीच विराजमान, परमशोभाधाम अलपत्थर झील के आधार पर, जिसे देखने यात्री जाते हैं, किया गया है। किन्तु इस नाम की सांकेतिक सार्थकता भी है। कथा का खन्ना तथा हरनामसिंह, रैना और क्रीम खाँ सभी पत्थर-हृदय वाले हैं, जिन्हें हसनदीन-जैसे बेगुनाह बेज़बान ग़रीब को सताने, उसका पेट काटने में हिचक नहीं होती। कथानक का केन्द्रविन्दु हसन-दीन है और आद्यन्त हमारी दृष्टि उसी पर रहती है। इस एक व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण कथानक में एकसूत्रता आ गयी है। हमारे विचार से जहाँ तक कथानक-सौष्ठव का सम्बन्ध है, यह उपन्यास अश्क के अन्य उपन्यासों से श्रेष्ठ है। नाटक के संकलन-त्रय का सिद्धान्त भी उपन्यास पर किसी हद तक लागू होता है। सम्पूर्ण कथा केवल दो दिनों की है, स्थान कश्मीर का एक सीमित भू-भाग है, और कार्य-व्यापार मात्र उन स्थानों की सैर है। पात्र-संख्या सीमित है और प्रधान पात्र तो दो ही हैं—खन्ना तथा हसनदीन। खन्ना आत्म-लिप्त, स्वार्थी, चालाक, हृदयहीन एवं शोषक वृत्ति का व्यक्ति है। एक प्रकार से यह नाटक का खल-नायक है। हसनदीन पीड़ित मानवता का प्रतीक है—ईश्वर में अटूट विश्वास रखने वाला भाग्यवादी! इन्हीं दोनों पात्रों को लेकर कथा अग्रसर हुई है और एक ओर हसनदीन के प्रति हमारी सहानुभूति और दूसरी ओर खन्ना के प्रति घृणा बढ़ती जाती है। कहानी का विकास-क्रम बड़ा ही सहज एवं अनायास-सा है और कथानक के सुसंगठित एवं संतुलित होने के कारण एक पूर्ण प्रभाव पड़ता है। उपन्यास में आद्यन्त करुणा की अन्तर्मुखी धारा प्रवाहित रहती है और पुस्तक के अन्तिम पृष्ठों को समाप्त करते-करते हमारा हृदय हसनदीन

की दुर्दशा से कातर हो उठता है। यह एक प्रकार से संस्कारजन्य अन्ध ईश्वर-निष्ठा की ट्रेजिडी है। भाग्य और भगवान के नाम पर सहन-शीलता का दण्ड है। कश्मीर की उस निसर्ग-सुषमा एवं पवित्रता की पृष्ठभूमि में मानव की हृदयहीनता और भी कुत्सित रूप में उभर आयी है। उप्पल साहब, उनकी भतीजी ऊषा तथा उसके प्रेमी जीवानन्द का प्रसंग खन्ना के चरित्र एवं व्यवहार को और भी प्रकाश में लाने के लिए चित्रित किया गया है। हरनामसिंह, रैना और क्रीम खाँ की क्रूरता हसनदीन की ट्रेजिडी को और भी गहरा रंग दे देती है। रचना-विधान में यात्रा-वर्णन-कौशल का पूरा-पूरा उपयोग किया गया है। स्मृत्यालोक में हसनदीन अतीत-घटनाओं को भी देख जाता है। वह अपने पूर्वजों का भी प्रतीक है और उसके रूप में घोड़वानों की जीवन-रीति एवं आशा-आकांक्षा साकार हो गयी है।

इस उपन्यास में भी व्यक्ति को सजीवता देने के लिए जहाँ एक ओर उनके रूप-रंग का, आकृति-प्रकृति का, चेष्टाओं-भावभंगिमाओं का, वेश-भूषा का व्यंजक वर्णन किया गया है, वहीं उनके मनःप्रवाह की गतियों का भी सूक्ष्मद्रष्टा के समान अनुसरण किया गया है। हसनदीन के स्वभाव-संस्कार का, उसकी आशा-आकांक्षा का, उसकी धर्मनिष्ठा का, अनुभूतियों-कल्पनाओं का वर्णन पर्याप्त मनोवैज्ञानिक है। खुदा की इबादत से ही उसकी कथा का आरम्भ होता है और जब दो दिनों के अथक परिश्रम करने पर भी खुदा उस पर रहम नहीं करता, उसे कानी कौड़ी भी नहीं मिलती और वह बेईमान सिपाहियों द्वारा निरपराध हवालात में बन्द कर दिया जाता है, तब भी खुदा से कोई शिकायत न करके अपने कष्टों के दूर करने की ही प्रार्थना करता है। खन्ना के चित्रण में आद्यन्त एक प्रच्छन्न व्यंग्य है और लेखक ने बड़े सूक्ष्म स्पर्शों से उसकी वणिकवृत्ति, कंजूसी, चालाकी एवं टुच्चेपन का वर्णन किया है। वास्तव में खन्ना की कश्मीर-यात्रा आनन्द-भोग के लिए नहीं, वरन्

शौक और जानकारी बढ़ाने के लिए अथवा पत्नी तथा पुत्र की इच्छा-पूर्ति के लिए है। तभी तो उस भव्य सौन्दर्य के बीच पहुँच कर भी उसकी सहृदयता जाग्रत नहीं होती।

अश्क के अन्य उपन्यासों की भाँति इस उपन्यास में भी छोटे-छोटे व्यंजक ब्योरों के द्वारा वातावरण को सजीवता प्रदान की गयी है। अश्क की वर्णनकला से हम परेज़पुर गाँव, लकड़ी के टेढ़े-बैंगे अनगढ़ दोमंज़िले घरौंदे, गली के बीचों-बीच बहने वाला छोटा-सा नाला, घोड़वान हसनदीन का तीन कमरों वाला घर, उसमें पड़ी हुई घास, घोड़े का अस्तबल, घास में मुँह मारते अथवा अगली टाँगे बँधी होने से फुदक कर खेतों में चरने वाले घोड़े,भोर के झुटपुटे में जवांसाल मुर्ग़ की पूरे गले की आवाज़, बसों को घेर कर खड़े, फटी कमीज़ें या मैले फ़िरन पहने, बरसों से नहाये, नंगे पाँव और घुटनों तक मैल से जमी टाँगें लिये, हड्डी के एक टुकड़े के लिए एक-दूसरे को नोच डालने वाले कुत्तों की तरह कुलियों का झुण्ड अपनी आँखों से देखते हैं। इन सब के साथ-साथ हम लेखक की आँखों से गुलमर्ग, खिलनमर्ग, दोनाला अफ़राबट,फ़रोज़नलेक और अलपत्थर का रास्ता ही नहीं देख लेते, उनके प्राकृतिक वैभव को भी अपनी आँखों में भर लेते हैं। स्थानीय बोली एवं प्रादेशिक शब्दों के प्रयोग से यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने में बड़ी सहायता मिली है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से यह एक सफल उपन्यास है और 'गिरती दीवारें' तथा 'गर्म राख' के कथानक में जो बिखराहट मिलती है, उसका इसमें नितान्त अभाव है।

●

सितारों के खेल

राजवल्लभ ओझा
एक घटना-प्रधान उपन्यास



ओंकार शरद
यथार्थवादी रोमानी उपन्यास

एक घटना-प्रधान उपन्यास

•

राजवल्लभ ओझा

विश्व कवि वाल्ट ह्विटमैन ने अपनी प्रसिद्ध कविता (So Long) में दो अमर पंक्तियाँ लिखी हैं :—

Comrade, this is no book,
Who touches this touches a man.

अर्थात् साथियो। यह पुस्तक नहीं, जो इसे स्पर्श करता है वह मानव-हृदय को छू लेता है। 'सितारों के खेल' नामक पुस्तक में जीवन के दुख-सुख, हास्य-अश्रु, विनोद-संताप और उत्कर्ष-पतन का जो सुन्दर, सजीव और मर्मस्पर्शी वर्णन है, वह अश्क की कला को आदर्श रूप में व्यक्त करता है। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है। जो कुछ हम देखते हैं और अनुभव करते हैं उसका यथार्थ अभिव्यक्तिकरण ही कला का प्रधान उद्देश्य है। जीवन की दारुण परिस्थितियों से बाहर निकलने का आशापूर्ण सन्देश देना भी साहित्यिक का प्रधान कर्तव्य है।

'सितारों के खेल' में भी इसी भावना का प्रकाश पाया जाता है, अस्तु यह मुझे प्रिय लगी। क्योंकि उसकी भावनाएँ हृदय को स्पर्श करती हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक, भारतीय मध्यवर्ग के पारिवारिक जीवन का सकरुण चित्र है। बंसीलाल इस कथानक का एक ऐसा विचित्र पात्र है, जिसके दैन्य, नैराश्य और दारिद्रय के सूत्र में घटनाओं की जाली बुनी गयी है। कालेज में वाद-विवाद-प्रतियोगिता होती है। वैवाहिक-पद्धति पर पूर्वीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण से विचार होता है। लता और जगत भारतीय संस्कृति के अनुसार नैतिकता की दृढ़ नींव पर खड़े पुरातन वैवाहिक आदर्शों का समर्थन करते हैं। दीनता और बेबसी के तूफ़ानी झंझावातों से सताया हुआ बंसीलाल इस प्रतियोगिता में भविष्य की सम्पूर्ण आशाओं और हार्दिक आकांक्षाओं को मानो कुचलने के लिए ही भाग लेता है। वह हमारे जीर्ण-शीर्ण और जर्जर वैवाहिक नियमों के विरुद्ध योरोपीय आदर्शों का समर्थन करता है। बीच-बीच में जगत के प्रति उसकी व्यक्तिगत चुटकियाँ ही उसके भावी कष्ट का मूल कारण बन जाती हैं। उधर लता जगत के आडम्बर पर रीझ जाती है। फिर जवानी का नशा, जगत की विनोदप्रिय बातें और दो हृदयों का मूक आकर्षण। लता अपने पिता की एकमात्र सन्तान। वह मलिक बाबू के जीवन की टिम-टिमाती रोशनी थी और उसे ज्योतिर्मय रखने के लिए वे सब कुछ न्यौछावर करने को प्रस्तुत थे। जगत के प्रति लता के आकर्षण को अनुभव कर उन्होंने कहा कि उसी से लता की शादी कर दी जाय। किन्तु देवता-स्वरूप उस वृद्ध पिता को यह ज्ञात नहीं था कि जगत के हृदय में एक भीषण राक्षस है, जो 'प्रेम' को वासना के रूप में निगल जाना ही अपना कर्तव्य समझता है। अन्त में मेघदूत सुनाने वाले जगत का पाखण्ड प्रकट हो जाता है और लता के हृदय में एक तूफ़ान-सा मच जाता है। फिर बंसीलाल के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती

है—किन्तु वह कब ? जब ग़रीब 'बंसी' लता के कोठे से गिरकर अपने शरीर को नष्ट-भ्रष्ट कर पट्टियों में लिपटा हुआ अस्पताल में पहुँचता है, तब !! वहीं अस्पताल में डा० अमृतराय भी बंसी के हृदय-प्रदेश के भावी 'नख़लिस्तान' को समूल बरबाद करने के लिए पैदा हो जाते हैं। और वहीं आ जाती है कथानक के आँसुओं को पोंछने के लिए बंसीलाल की बहन राजरानी। बंसी को नव-जीवन प्रदान करने के लिए लता ने अपना रक्त दिया और राजरानी ने अपने शरीर का गोश्त !! किन्तु उसके टूटे-से दिल और खण्डहर-से शरीर में नवजीवन का अंकुर प्रस्फुटित न हो सका ! विज्ञान से थककर लता ने तीर्थाटन करना चाहा और बंसीलाल तथा अमृतराय के साथ वह योगियों की तलाश में चल पड़ी। लाख चेष्टा की गयी किन्तु बंसी के घाव न मिट सके। उसके सूखे बाल, धँसी हुई आँखें, टूटे हुए और मुड़े हुए बाज़ू लता को निराशा के अतिरिक्त भेंट ही क्या दे सकते थे। वह इन संतापों से कांप जाती है और डाक्टर की भावनाओं को साकार स्वरूप प्रदान करती है। प्राणों से प्रिय बंसी को विष पिला देती है और शायद उसके साथ ही अपने मंगल-सूत्र को भी तोड़ देती है। बस यही स्थान तो कथानक का केन्द्र बिन्दु है और यहीं से उपन्यास अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर मुड़ता है। राजरानी धर्मशाला में पहुँच जाती है और बंसीलाल की आशाओं के साथ-साथ उसके पार्थिव शरीर को भी दफ़ना कर सब लाहौर लौट आते हैं। किन्तु लता, जिसका कंकाल ही शेष रह गया था, अब अधिक इन कष्टों का सामना न कर सकी। वह अस्वस्थ होकर मंज़िल की ओर मुड़ गयी। डाक्टर को बुलाकर उसने कहा—'डाक्टर साहब भावुकता छोड़ दीजिए...। भटकने के लिए आप नहीं बने, बंसीलाल था भटकने के लिए, मैं थी भटकने के लिए। संसार-सागर को पार करने के लिए भावुकता के चप्पू काम नहीं आते। मझधार में चाहे वे भले ही बहा ले जायँ, किन्तु पार ले जायँगे, ऐसी सम्भावना

नहीं। हमने भावुकता के चप्पू का सहारा लिया, अंजाम आपके सामने है, तब आप ऐसा क्यों करें?' फिर खाँसकर उसने कहा, 'बंसीलाल को प्यार कर पाप किया या पुण्य, यह मैं नहीं जानती, डाक्टर साहब! पर यह सब अच्छा ही हुआ। उसके और मेरे मध्य में जो पर्दा-सा छा गया था, मौत ने उसे हटा दिया और उस पर्दे के हट जाने पर वह और मैं फिर आमने-सामने हो गये।' ये वाक्य कितने सत्य और संवेदनशील हैं। एक-एक शब्द से मानव-जीवन का वास्तविक चित्रण हो जाता है और वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है। अन्त में लता डाक्टर से अनुरोध करती है कि वह रानी को अपनी चिरसंगिनी बना ले और अमृतराय के आँखों से बहते हुए आँसू इस कारुणिक प्रार्थना को स्वीकार कर लेते हैं। बस, इसके बाद उपन्यास की वास्तविक नायिका लता, अपनी अन्तिम खाँसी के साथ अपनी हसरतों को कुचलती हुई निर्जीव-सी होकर मृत्यु की गोद में सो जाती है। यह है इस उपन्यास का अश्रु-प्लावित संक्षिप्त कथानक!

लेखक ने अपने वक्तव्य में स्वयं लिख दिया है कि प्रस्तुत उपन्यास विषय-प्रधान है। इसमें भारतवर्ष की वैवाहिक समस्या, प्रेम, भावुकता और सामाजिक स्वतन्त्रता पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। पात्रों की ज़बान से जो बातें कहलायी गयी हैं, वे सचमुच लेखक के विचार को स्पष्ट कर देती हैं। लता ने अंतिम सन्देश, जो रानी को दिया है वह उल्लेखनीय है, देखो, मेरी तरह स्वतन्त्र रहकर न भटकना। प्रकृति ने जिस उद्देश्य से पुरुष-स्त्री का सृजन किया है, उसी उद्देश्य की पूर्ति का मार्ग सबसे अच्छा मार्ग है।" इस संक्षिप्त अवतरण से ही लेखक के सुलझे हुए विचार ज्ञात हो जाते हैं, और यही साहित्यकार की सफलता है कि उसकी भावनाएँ व्यक्त होकर पाठक को अपने प्रवाह में बहा ले जायँ।

मेरी दृष्टि में 'सितारों के खेल' नामक यह उपन्यास एक सफल

दुःखान्त उपन्यास है। शरत बाबू के उपन्यासों की भाँति इसमें भी मर्मस्पर्शी भावनाएँ अंकित हैं। कथानक के अन्त में डाक्टर और राजरानी के कारुणिक मिलन को पाठक भूल जाता है और उसके सम्मुख लता का चित्र अंकित हो जाता है।

लेखक की भाषा मर्मस्थल पर आघात करने वाली है। कहीं-कहीं पर बहुत ही सुन्दर शब्द-चित्र बन पड़े हैं। प्रेमचन्द की भाँति यत्र-तत्र ऐसे भावपूर्ण पदों का प्रयोग मिलता है जो भाषा में प्राण फूँक देते हैं। शैली काफ़ी मौलिक है। हाँ, कहीं-कहीं पर वाक्यों का कलेवर इतना बड़ा हो गया है कि स्वाभाविकता और सरसता लुप्त हो गयी है। उर्दू के कड़े शब्दों का प्रयोग भी मुझे असंगत प्रतीत हुआ।

विषय-प्रतिपादन में कहीं-कहीं घटनाओं को इतना तूल दे दिया गया है कि वह अस्वाभाविक प्रतीत होता है। आधारभूत विषय को संवेदनशील बनाने के लिए स्वाभाविक बातें कम सहायक नहीं होतीं।

'सितारों के खेल' का स्थान हिन्दी कथा-साहित्य में काफ़ी आदरणीय होगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

●

यथार्थवादी रोमानी उपन्यास

●

ओंकार शरद

कसी भी उपन्यास की सफलता की पहली शर्त यह होती है कि उपन्यास पाठक को समाप्ति तक अपने से अलग न होने दे। इस दृष्टि से 'सितारों के खेल' पूर्णरूप से सफल है। पुस्तक पढ़ते समय पाठक को लगेगा, जैसे वह किसी छवि-गृह में कोई चित्र देख रहा है और इस प्रकार उसमें डूबा हुआ है कि वह उसके बाहर कुछ भी देखना, सोचना नहीं चाहता। कथानक में इतना तेज़ प्रवाह है कि पाठक बहता चला जाय। साथ ही कथानक की इस रवानी के बीच ऐसे अनेक स्थल भी आते हैं कि पाठक क्षण भर को आँखें मूँदकर उनकी गहराई में डूब जाता है। रवानी और दिलचस्पी इसके कुछ ही दिन बाद लिखे गये अश्क के बेहद प्रसिद्ध उपन्यास 'गिरती दीवारें' में भी है, पर वहाँ जो असर जीवन की विविधता के चित्रण द्वारा उपस्थित किया गया है, वही 'सितारों के खेल' में एक छोटे-से घेरे में, कथानक के गठन द्वारा हासिल होता है।

अधिकांश आलोचकों ने 'सितारों के खेल' को रोमानी उपन्यास कहा है और 'गिरती दीवारें' को यथार्थवादी। किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो वह यथार्थवाद, जो 'गिरती दीवारें' में पूर्णरूप से दिखायी देता है, बीज रूप में 'सितारों के खेल' में भी मौजूद है। सरसरी नज़र से देखने पर यह उपन्यास ज़रूर रोमानी लगता है—रावी की लहरों पर जगत और लता की सैरें, उस काली, बरसाती, तूफ़ानी रात में बंसीलाल का सिर्फ़ नल के सहारे लता के मकान की तीन मंज़िलें चढ़ जाना, वह उसकी लगभग घातक छलाँग, अमृतराय का लता और राजरानी का अमृतराय से प्रेम और फिर धर्मशाला के वे उदास-उदास, प्यार-भरे एकाकी दिन, सब एक रोमानी झीने पर्दे में लिपटे दिखायी देते हैं। लेकिन इस सारे रोमानी वातावरण में, उस रोमानी दीखने वाले कथानक को रखते हुए, अश्क ने उसके पात्रों का जैसा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है, वह एकदम यथार्थवादी है।

ज़रा और ध्यान से देखने पर यह भी पता चलता है कि वह सारी-की-सारी रोमानी कहानी वास्तव में उन्हीं मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन करने के लिए अश्क ने अपने इस उपन्यास में रखी है। अश्क के दिमाग़ में लड़कपन ही से (जैसा कि उन्होंने इस उपन्यास से सम्बन्धित 'साहित्य सन्देश' के अपने एक लेख में लिखा है) पुराणों की उस पतिव्रता सती की कहानी समायी हुई थी, जिसका तानाशाह पिता उसको एक पंगु-कोढ़ी के साथ ब्याह देता है और वह अपने उस पंगु, कंकाल-मात्र पति को टोकरे में रखे, सिर पर उठाये-उठाये फिरती है, और अश्क जी के मन में बराबर यह प्रश्न उठता था कि किसी युवा नारी के लिए कहाँ तक ऐसा करना सम्भव है? 'सितारों के खेल' वास्तव में उसी प्रश्न का उत्तर है।

अश्क जी के विचार में किसी युवा नारी का वह आदर्शाचरण लगभग काल्पनिक है। यथार्थ से उसका उतना सम्बन्ध नहीं। लगभग

इसलिए कि प्रायः धर्म, समाज और महत्वाकांक्षा की ज़ंजीरें मानव-मन की स्वाभाविक वृत्तियों पर अंकुश लगा देती हैं, लेकिन उस अंकुश और स्वाभाविक नियन्त्रण का नतीजा प्रायः कई तरह की कुंठाओं में निकलता है। अश्क जब उस सती की कहानी सोचते तो उनके सामने धर्म, संस्कार और भावनाजनित वह अंकुश घूम जाता, जो उस कोढ़ी से शादी हो जाने पर उस पौराणिक सती ने अपने ऊपर लगा लिया होगा और अनायास उनके मन में, उस सती के हृदय की गहराइयों में कुछ और गहरे पैठने की इच्छा प्रबलतर हो उठती। बचपन की डींग में कही गयी उस बात के फलस्वरूप (जो किसी भी लाड़ली, हठीली लड़की के मुँह से निकल सकती है) जब उसे अपने तरुण जीवन को एक कृशकाय कंकाल-मात्र कोढ़ी से जोड़ना पड़ा होगा, तो भावुकता की घड़ियों के बीत जाने पर वह क्या सोचती रही होगी। अपने ऊपर उसे कैसी झुँझलाहट होती होगी। उस बूढ़े, कंकाल, कोढ़ी पर उसे कितना क्रोध आता होगा— ये और ऐसी ही कई बातें अश्क जी बराबर सोचते रहते।

पौराणिक कथाकार ने उस समस्या का बड़ा आसान हल निकाल लिया और एक-दो रुकावटों को पार कर (जिनमें सती के सतीत्व, निष्ठा और शक्ति की पूरी परीक्षा हो गयी) उसके कोढ़ी पति को यौवन प्रदान कर दिया गया और पतिव्रता सती अपने उस युवक पति के साथ सुखपूर्वक रहने लगी।

लेकिन आज का यथार्थवादी कथाकार यह नहीं कर सकता। लगता है, यही बात बार-बार अश्क जी के दिमाग़ में आती रही और आखिर उन्होंने लता के रूप में वैसे ही एक पात्र का सृजन किया और उसकी परिस्थितियों को एक स्वाभाविक भूल के कारण उसके जीवन को उसी कोढ़ी जैसे पंगु बंसीलाल से बाँध दिया। ऐसा करना अपने-आप में बहुत कठिन था, लेकिन अश्क जी ने इस बात का ध्यान रखा

कि वह घटना एकदम असम्भव न दिखायी दे।

इसके बाद, याने उस पंगु के साथ लता के जीवन को बाँधने के पश्चात्—अश्क जी ने कहानी की गति को यथार्थ रूप से ही चलने दिया। तब लगता है, जैसे वे उस रोमानी कथा को एकदम भूल गये और मनोवैज्ञानिक सत्य को पथ-प्रदर्शक मानकर चलते गये। वह क्षण, जब लता अपनी कुंठा की चरम सीमा पर पहुँचकर बंसीलाल को विष देकर उससे छुटकारा पा लेती है, बड़े ही कटु सत्य से भरा है। कदाचित् लता के इसी कृत्य को लक्ष्य कर एक आलोचक ने इसे 'बिगड़ी हुई आधुनिका' की संज्ञा दी है, पर अश्क जी का यह कहना है कि उस परिस्थिति में कोई भी तरुण नारी—शिक्षित या अशिक्षित, वैसा ही आचरण करती। हो सकता है, यदि धर्मशाला छावनी का वह एकान्त न होता, उसे प्यार करने वाले अमृतराय न होते तो वह घटना यों न घटती। पर तब लता के मन की कुंठा किसी और रूप में फूट निकलती।

लेकिन लता का वह कृत्य, जो उन परिस्थितियों में बिलकुल स्वाभाविक था, अमृतराय को बड़ा ही अस्वाभाविक लगा। उनके हृदय में जैसे झन-से कुछ टूट गया। लता के प्रति उनके आकर्षण का कारण केवल वह निष्ठा थी, जिससे वह पंगु बंसीलाल की सेवा कर रही थी। भावना के झोंके में वह उसे स्वयं ज़हर भी दे सकती है, यह उन्होंने कभी न सोचा था। वे स्वयं उसे ज़हर दे देते (जिसका एक बार उन्होंने स्वयं प्रयत्न भी किया था) तो लता के साथ विवाह कर, सुखपूर्वक जीवन बिता सकते थे, लेकिन लता के उस कृत्य के बाद उनके लिए ऐसा करना एकदम असम्भव था।

अश्क जी ने यहाँ एक बड़े ही गहरे मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन किया है। मन की दुनिया में सहसा जो उथल-पुथल हो जाती

है, उसका बिम्ब प्रायः मुख पर नहीं आता, पर लेखक की गहरी दृष्टि मन के अज्ञात स्तरों को भेद, उन रहस्यों का उद्घाटन कर देती है। अश्क जी ने इस स्थल पर ऐसा ही किया है। लता की निष्ठा को देख अमृतराय का उसे प्यार करने लगना वैसा ही स्वाभाविक है, जैसा इस घटना के बाद उनका उससे अलग हट जाना।

बात शायद पाठक को अच्छी नहीं लगती—लता के प्रति सहानुभूति भी जगती है, पर यथार्थवादी लेखक क्या करे? वह पौराणिक कथाकार नहीं कि वरों और अभिशापों का सहारा ले। मन की स्वाभाविक वृत्तियों के सहारे ही उसे कहानी को आगे बढ़ाना है और अश्क जी ने वैसा ही किया। वह कहानी, जो शुरू-शुरू में उस पौराणिक सती की कहानी जैसी रोमानी थी, अन्त तक पहुँचते-पहुँचते यथार्थवादी हो गयी है। लता बंसीलाल को विष न देती और ऊपर से वैसी ही बनी रहती तो उसके अन्तर्मन में न जाने कितनी कुंठा उत्पन्न हो जाती, न जाने कितना अन्धकार उसके मन पर छा जाता, और उस अँधेरे में वह न जाने क्या-से-क्या न कर देती।

उपन्यास का पूरा कथानक उपन्यास की नायिका लता के चारों ओर ही भटकता रहता है और अश्क जी ने जान-बूझकर लता के चरित्र व व्यक्तित्व को बहुत उभारा है। इसमें कहीं-कहीं लगता है कि वे अपने अन्य चरित्रों के प्रति थोड़ा अन्याय कर गये हैं। क्योंकि पाठकों की दृष्टि में रानी, डा० अमृतराय व बंसीलाल का चरित्र कम महत्वपूर्ण नहीं लगता। सेवा और त्याग की प्रतिमा राजरानी डा० अमृतराय की ओर बहुत तेज़ी से आकर्षित होकर भी यह जानकर अपना मुँह उनकी ओर से फेर लेती है कि लता भी अमृतराय से प्रेम करती है। अपने भाई बंसीलाल के प्रति किये गये लता के एहसानों को वह सदा अपने सामने इसीलिए रखती है कि वह कहीं से एहसान-फ़रामोश

न हो जाय। सेवा और त्याग के लिए वह अपने जीवन को सदा ही जलने वाली भट्ठी बना रखती है। जीवन में आने वाले तूफ़ानों के प्रति संतुलन की वह प्रतिमा है।

बंसीलाल जीवन भर सदा असन्तुष्ट और विषमताओं के प्रति अपना सिर झुका देने वाला एक ऐसा कमज़ोर चरित्र है, जिसके बिना शायद लता व डॉ० अमृतराय का चरित्र उभर न पाता। डा० अमृतराय के रूप में अश्क जी ने आज के एक ऐसे पढ़े-लिखे पर कुंठित आधुनिक व्यक्ति का चित्रण किया है, जो सूट-बूट-धारी होने और विलायत का चक्कर लगा आने पर भी कहीं अन्तर में वही बर्बर पुरुष है, जो नारी को पतिव्रता दासी देखना चाहता है और बराबर की संगिनी से डरता है। ऐसे पात्र हमें अपने नित्य-प्रति के जीवन में बराबर मिलते हैं, जो केवल पाठकों का मनोरंजन न कर, मनोविज्ञान के अनेक पहलुओं को हमारे सामने स्पष्ट कर देते हैं।

उपन्यास के प्रथम संस्करण में लेखक ने अपनी ओर से जो कुछ कहा है, वह नितान्त अपर्याप्त है। और फिर उपन्यास का नाम 'सितारों के खेल' लेखक के मन्तव्य को ज़रा भी तो प्रकट नहीं करता। अश्क जी ने अपने उपन्यास का यह नाम क्यों रखा ? यह कहना कठिन है। शायद उस समय अश्क जी अपने विचारों में अधिक भाग्यवादी थे। सितारे नक्षत्र हैं, जो हमारे जीवन को बाँधे हैं। सितारों के खेल—याने भाग्य के खेल—यह नाम उस अदृश्य शक्ति की ओर संकेत है, जो हमारी गतिविधि का निर्देशन करती है और जिसके कारण लता के बदले राजरानी को अमृतराय का प्रेम मिलता है और लता परिस्थितियों की चक्की में पिसकर समाप्त हो जाती है। अश्क जी के उस समय के शेरों में भी यही भाग्यवाद साफ़ दिखायी देता है :—

उसे बिजली ने ताका जूंही मैंने
निशेमन के लिए शाख ताकी !

या

इन्सान समझता है कि तदबीर है सब कुछ
मजबूरियाँ कहती हैं कि तक़दीर भी कुछ है।

और ये दोनों शेर लता के जीवन पर पूरी तरह लागू होते हैं। लेकिन उपन्यास अश्क जी ने इस भाग्यवाद को दर्शाने के लिए लिखा हो, ऐसी बात नहीं। क्योंकि भाग्यवाद इसका आधारभूत विचार नहीं। लगता है कि लेखक ने नाम पहले नहीं सोचा और उपन्यास समाप्त होने पर, अपनी उस समय की मानसिक स्थिति के अनुसार उसका यह नाम रख दिया। उपन्यास का आधारभूत विचार तो उस पौराणिक सती की स्थिति में आज की नारी को रखकर उसके मनोविज्ञान को देखना है। वह नारी पिशाचिनी नहीं, जैसा कि दो-एक आलोचकों ने लिखा है; किन्तु वह देवी भी नहीं, जैसा कि हमारे पौराणिक कथाकार उसे दिखाते आये हैं, वह केवल नारी है और मेरे विचार में प्रस्तुत उपन्यास में अश्क जी उसके चरित्र-चित्रण में पूरी तरह सफल हुए हैं।

यह पुस्तक उनकी औपन्यासिक कला के उस पहलू को सामने रखती है, जो यथार्थवादियों की दृष्टि से छिपा रहा है। हो सकता है कि 'गिरती दीवारें' व 'गर्म राख' के यथार्थवाद के हिमायती इसे उन दोनों उपन्यासों की बराबरी का स्थान न दें, परन्तु मैं इसे उनसे किसी तरह भी कम महत्वपूर्ण नहीं मानता।

●

गिरती दीवारें

शिवदान सिंह चौहान

यथार्थवादी परम्परा का
सर्वश्रेष्ठ उपन्यास

●

नलिनविलोचन शर्मा

एक कुंठित व्यक्तित्व का
दयनीय इतिहास

●

शमशेर बहादुर सिंह

अश्क आधी मंज़िल पर

●

डा० देवराज उपाध्याय

लेखक के आत्मदान में चूक

●

डा० धर्मवीर भारती

निम्न-मध्यवर्ग का तटस्थ चित्रण

यथार्थवादी परम्परा का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास

●

शिवदान सिंह चौहान

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का उपन्यास 'गिरती दीवारें' लगभग सात सौ पृष्ठों का एक बृहत् उपन्यास है। स्वर्गीय प्रेमचन्द के 'गोदान' के पश्चात् हिन्दी में लघु-उपन्यासों की प्रथा रही। अधिकांश उपन्यास दो-तीन सौ पृष्ठों के आगे नहीं बढ़ सके, केवल 'अज्ञेय' का उपन्यास 'शेखर—एक जीवनी' ही एक बृहत् उपन्यास इस बीच प्रकाशित हुआ है। उसके दो भाग निकल चुके हैं, तीसरे भाग की प्रतीक्षा की जा रही है। परन्तु 'शेखर—एक जीवनी' मनोवैज्ञानिक उपन्यास है और यद्यपि उसकी शैली अत्यन्त परिष्कृत और उसकी टेकनीक अति आधुनिक है; परन्तु मूलतः वह एक रोमांटिक उपन्यास है। इसके ठीक विपरीत 'गिरती दीवारें' मूलतः एक यथार्थवादी उपन्यास है, पर इस व्याख्या से उसका मूल्य 'शेखर' से किसी भी अर्थ में कम नहीं है, क्योंकि 'गिरती दीवारें' की शैली और टेकनीक भी इतनी सुगठित, सुष्ठ,

परिष्कृत और कलापूर्ण है कि निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द के 'गोदान' की यथार्थवादी परम्परा में 'अश्क' का यह उपन्यास एक बहुत बड़ा और साहसपूर्ण क़दम है। सम्भवतः इस कथन में अत्युक्ति नहीं है कि 'गिरती दीवारें' हिन्दी की यथार्थवादी परम्परा के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गणना करने योग्य है। प्रेमचन्द के 'गोदान' ने यदि किसान-जीवन का सांगोपांग चित्रण किया है, तो अश्क ने 'गिरती दीवारें' में निम्न-मध्यवर्ग के जीवन का व्यापक चित्रण किया है। 'गिरती दीवारें' वस्तुतः निम्न-मध्यवर्ग के युवक चेतन की जीवनी है। चेतन अज्ञेय के उपन्यास के नायक शेखर की तरह अभिजात कुल का नहीं, अतः वह प्रारम्भ से ही अपनी वंशानुगत अथवा जन्मजात प्रतिभा की प्रखर चेतना से आक्रांत नहीं है कि सोते-जागते अपने मन में अपनी प्रतिभा की माला फेरता रहे कि मैं प्रतिभावान हूँ, असाधारण हूँ। चेतन ऐसे साधारण, असंस्कृत और रूढ़ि-जर्जर परिवार में पैदा हुआ था, जहाँ चीकने पात वाले होनहार बिरवा भी जीवन की दुर्द्धर्ष विषमताओं के वर्षा, आतप, घाम में रुक्ष और धूल-धूसरित दिखायी देते हैं। इस कारण शेखर की तरह अपने जीवन की अधिकांशतः अनुकूल परिस्थितियों पर शासन करके लोगों से प्रतिभा की महत्ता स्वीकार करा लेने की समस्या चेतन को उद्वेलित नहीं करती। वह सबसे पहले जीना चाहता है और जीने के लिए विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करता है और इस संघर्ष के दीर्घ पथ पर साहसपूर्वक चलने के क्रम में वह अपनी प्रतिभा को कठोर अनुभवों की शिला पर टकरा-टकरा तीव्र-से-तीव्रतर और उत्तरोत्तर अधिक मानवीय, सामाजिक और व्यापक बनाता जाता है। इसी कारण अश्क के उपन्यास में न लम्बी-चौड़ी सैद्धांतिक बहसें हैं, न मतामत का प्रचार, न मिथ्या दार्शनिकता का ढोंग—उसमें साधारण घटनाओं से बना साधारण जीवन अपने सम्पूर्ण सजीव वातावरण की रूप-रस-गंध-मय चित्रात्मकता के साथ प्रतिबिम्बित हो उठा है, यही

उसकी विशेषता है।

यों कहने के लिए 'गिरती दीवारें' की समस्या पुराने ढंग के अनमेल विवाह से उत्पन्न जीवन के दुर्निवार असामंजस्य की समस्या है, परन्तु वास्तव में अश्क ने अपने को इस समस्या तक ही सीमित नहीं रखा है, 'गिरती दीवारें' का प्रत्येक वाक्य वर्तमान जीवन की अगणित समस्याओं को एक जटिल ग्रंथि के रूप में उपस्थित करता है—एक ऐसी ग्रंथि के रूप में, जो अपनी जर्जरता को छिपाने के लिए अधिकाधिक निर्मम, कठोर और हिंसक बनती जा रही है; पर साथ ही जीवन के उद्दाम गति-वेग और अविराम परिवर्तन के थपेड़े खाकर, जिसके बंधन असह्य वेदना, गहरी निराशा और मानसिक उद्विग्नता पैदा करके टूटते जा रहे हैं।

इस विशाल रूपक को 'अश्क' ने चेतन की अपेक्षाकृत साधारण, पर संश्लिष्ट जीवनी में अत्यन्त कलात्मक ढंग से आबद्ध किया है।

ग़रीब निम्न-मध्यवर्ग में उत्पन्न चेतन, किसी प्रकार बी० ए० पास कर लेता है। काव्य और साहित्य के प्रति उसकी सहज रुचि है और स्वयं कवि और लेखक बनने की आकांक्षा भी उसमें जग चुकी है। उसके घर का जैसा कटुतापूर्ण वातावरण है और बाहर जीवन जैसा कठोर और दुर्गम है, उसके अनुभव को व्यक्त करके जी हल्का कर लेने की जितनी इच्छा स्वतः उसमें जगती है, उससे ज़्यादा परिस्थितियाँ उसे पहले एक स्कूल का मास्टर बना, फिर लाहौर में जाकर एक समाचार-पत्र में नौकरी करने के लिए विवश करके उसको साहित्य की दुनियाँ में ला पटकती हैं।

इसी बीच उसके माँ-बाप उसकी शादी एक साधारण-सी, पर अत्यन्त सरल हृदय रखने वाली लड़की चंदा से कर देते हैं और यद्यपि चंदा का रूप-रंग उसे पसन्द नहीं है और वह शादी नहीं करना चाहता, पर कठोर, निर्दय पिता शादीराम और ममता की देवी माँ के

आदेश को टाल नहीं सकता। चंदा की छोटी बहन नीला उसे प्रारम्भ से ही आकर्षित करती है, परन्तु जैसा रूढ़ियों में बँधे समाज में होता है, चेतन को अपने भाग्य से समझौता करना पड़ता है। नीला के प्रति चेतन का आकर्षण और चेतन के प्रति नीला का आकर्षण, एक अत्यंत जटिल समस्या उत्पन्न कर देता है। चेतन नीला को अपने मन से निकाल नहीं पाता। एक बार जब चेतन अपनी ससुराल में जाकर बीमार पड़ जाता है, नीला उसकी सेवा-सुश्रूषा करती है और यह निकट-साहचर्य उसकी इच्छाओं को दुर्दमनीय रूप से उभार देता है। वह एक दिन नीला को बलात् अंक में लेकर चूम लेता है। नीला अपने को छुड़ाकर भाग जाती है और उसका खाना-पीना छूट जाता है, लगातार रोती रहती है, सम्भवतः यह सोचकर कि भाग्य की विडम्बना के आगे उसे सिर झुकाना पड़ेगा, चेतन उसे नहीं मिल सकता (उपन्यास में ऐसा नहीं है—सं०) इधर चेतन आत्मग्लानि से भरकर, नीला के पिता को सारी घटना बताकर चन्दा को लेकर वहाँ से चल पड़ता है। परन्तु इस छोटी-सी घटना की टीस दोनों के मर्म में बार-बार जीवन-भर उठती रही और नीला जैसे अपने से ही बेसुध होकर अपनी छाया बनती गयी और चेतन आत्मग्लानि और अपने दाम्पत्य जीवन में सौंदर्य के अभाव से उत्पन्न आकांक्षा के बीच द्वन्द्व में पड़ा अपने जीवन की आर्थिक परिस्थितियों से ही जूझता रह जाता है।

इस संघर्ष और द्वन्द्व-भरे जीवन में चेतन को कतिपय विचित्र और कुरूप अनुभव होते हैं। अखबारों के दफ़्तरों में काम करते-करते वह अपना स्वास्थ्य खो बैठता है, ऐसे ही अवसर पर लाहौर के प्रसिद्ध वैद्य रामदास से उसकी भेंट हो जाती है। अपने स्नेह का अभिनय करके वे चेतन को अपनी बातों में फाँस लेते हैं और उसे शिमला ले जाते हैं। वहाँ वे चेतन से बच्चों की स्वास्थ्य-रक्षा के विषय पर एक पुस्तक लिखवाते हैं, पचास रुपये महीने पर चेतन तीन मास के अन्दर उन्हें

पुस्तक लिखकर दे देता है। पुस्तक वैद्यराज (कविराज) रामदास के नाम से ही प्रकाशित होगी, यह चेतन को बहुत पहले मालूम हो जाता है और तब से उसका मन किसी प्रकार इस धूर्त वैद्यराज (कविराज) के चंगुल से निकल भागने को करता है, परन्तु रामदास बात-चीत का इतना मीठा और मतलब का ऐसा चौकस है कि चेतन उसके आगे निरुपाय हो जाता है। वह चेतन से और भी पुस्तकें अपने नाम से लिखाता, यदि नीला के विवाह की सूचना पाकर वह शिमले से किसी प्रकार जान छुड़ाकर भाग न निकलता।

नीला का विवाह एक अधेड़ और कुरूप व्यक्ति से हो जाता है। चेतन नीला से एकांत में मिलकर उससे क्षमा माँगना चाहता है, पर नीला जैसे अपने अस्तित्व ही को भूल चुकी है। वह गुम-सुम अलग बैठी रहती है, केवल विदा होने के पहले वह आँखों में आँसू भरे, चेतन के कमरे में आती है और आर्द्र स्वर में चेतन से अपनी भूल-चूक के लिए क्षमा माँग लेती है। और जब चेतन अपने कसूर के लिए क्षमा माँगता हुआ नीला के चरणों में झुक जाता है, नीला 'जीजा जी, आप क्या करते हैं!' कहकर अपनी सिसकी को दबाती हुई नीचे भाग जाती है।

रात को चंदा गहरी नींद में सो रही थी और चेतन लेटा-लेटा सोच रहा था—उसे लगा कि यह अंधकार की दीवार उसके और उसकी पत्नी के मध्य ही नहीं, नीला और त्रिलोक (नीला के जेठ का लड़का) के मध्य भी है, बल्कि इस परतन्त्र देश के सभी स्त्री-पुरुषों, तरुण-तरुणियों, वर्गों और जातियों के मध्य ऐसी ही अनगिनती दीवारें खड़ी हैं—कविराज में और उसमें, उसमें और (कविराज के क्लर्क) जयदेव में, जयदेव और (कविराज के साधारण नौकर) यादराम में—इन दीवारों का कोई अंत नहीं। उस तिमिराच्छन्न निस्तब्धता में चेतन ने अगणित प्राणों की मूक सिसकियाँ सुनीं, जो इन दीवारों में

बन्द थीं और निकलने की राह न पा रही थीं। इन दीवारों की नींव कहाँ है? ये कब गिरेंगी और कैसे गिरेंगी?

और चेतन निम्न-मध्यवर्ग के उस चेतन प्राणी का सहज प्रतीक बन जाता है, जो इन बन्द दीवारों की नींव की थाह पाने के लिए और यह जानने के लिए कि वे कैसे गिरेंगी, सप्रश्न हो उठा है।

'गिरती दीवारें' अपनी शैली, कला और चित्रण और मानवीयता के कारण निश्चय ही हिन्दी का एक अनुपम और महत्वपूर्ण उपन्यास है। अश्क ने इसमें चेतन; चेतन के उग्र कठोर शराबी पिता—शादीराम; आत्मभीरु, त्याग, सेवा और ममता की मूर्ति माँ—लाजवती; नवागत यौवन और सौंदर्य से दीप्त नीला; सरल हृदय पत्नी चंदा; धूर्त वैद्यराज (कविराज) रामदास और दर्जनों दूसरे पात्रों का चरित्र-चित्रण इतना स्वाभाविक, सजीव और मार्मिक किया है कि ये पात्र स्मृति में घर बना लेते हैं। साथ ही जालंधर, इलाबलपुर, लाहौर और शिमले के वे स्थान, जहाँ पर इस उपन्यास में वर्णित घटनाएँ घटी हैं, उनका चित्रण भी अत्यधिक सजीव हुआ है। एक प्रकार से अश्क की यथार्थवादी शैली की यह विशेषता है कि उन्होंने वातावरण या परिवेश का चित्रण इतना विशद और सूक्ष्म किया है, जितना हिन्दी के किसी लेखक ने नहीं किया। और 'गिरती दीवारें' पढ़ते समय सहज ही तुर्गनेव, दास्तोवस्की और गोर्की के उपन्यासों का स्मरण हो आता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'गिरती दीवारें' अत्यन्त सबल और सफल कला का उपन्यास है और यदि 'गोदान' और 'शेखर' हिन्दी में अमर रहेंगे तो 'गिरती दीवारें' की अमरता पर भी आँच नहीं आयेगी।

●

एक कुंठित व्यक्तित्व का दयनीय इतिहास

●

नलिनविलोचन शर्मा

नदी में बाढ़ आती है। पानी तटों के ऊपर से बहने लगता है। नदी की आकृति मिट जाती है, उसकी धारा अनिश्चित, अनियंत्रित हो जाती है। ऐसी नदी के ढंग के उपन्यास भी होते हैं। ऐसे उपन्यास या तो बहुत पहले लिखे जाते थे या बहुत आधुनिक काल में। पहले 'आज़ाद-कथा'-जैसे उपन्यास लिखे जाते थे। इधर रोमां रोलां ने कुछ-कुछ इसी प्रकार के उपन्यास की उद्भावना की थी, जिसे फ्रेंच में 'रोमन फ़्लूव' (Roman Fleuve) कहते हैं और जो अनेकानेक जिल्दों में छपता चला जाता है—स्वयं रोलां ने एक उपन्यास के दस भाग प्रकाशित किये थे और योजना सत्ताइस भागों की थी।

हिन्दी में, आधुनिक काल में, 'अज्ञेय' ने इस प्रवहमान औपन्यासिक रूप का दुर्लभ आदर्श प्रस्तुत किया। 'शेखर : एक जीवनी' की धारा को 'अज्ञेय' प्रवाहित होते रहने दें, इसी में उस उपन्यास की सार्थकता

है—स्वयं उसमें इसकी योग्यता और शक्ति पर्याप्त मात्रा में है। 'गिरती दीवारें' भी वस्तुतः इसी प्रकार का उपन्यास है। उसका प्रवाह कुछ दूर तक जाकर ही रुक जाता है, यानी दूसरे शब्दों में पुस्तक एक भाग में ही समाप्त हो गयी है। इस विवेकशीलता के लिए 'अश्क' जी निस्सन्देह पाठकों की दृष्टि में धन्यवाद के पात्र होंगे।

बात ऐसी है कि 'गिरती दीवारें' बाह्यतः 'रोमन-फ़्लूव'-जैसी चीज़ होने पर भी अंततः 'आज़ाद-कथा' की परम्परा के ही निकट है। अश्क जी पर 'सरशार' का प्रभाव आसानी से समझा जा सकता है। वे उर्दू के सफल लेखक रह चुके हैं। उन्होंने अवश्य ही उर्दू के हर-एक विद्यार्थी की तरह इस आचार्य का अध्ययन किया होगा। लेकिन 'सरशार' का प्रभाव और अधिक लाभदायक हो सकता था। अश्क जी ने अपने उपन्यास के स्थापत्य को विशृंखल तो अवश्य रहने दिया है, लेकिन क्या उसमें वह 'आज़ाद-कथा' की क़िस्सागोई और विविधता ला पाये हैं?

और आधुनिक 'रोमन-फ़्लूव' में तो स्थापत्य की विशृंखलता की तह में ऐसा चारित्रिक या बौद्धिक प्रवाह बना रहता है, जो अस्त-व्यस्तता को भी एक परिवर्तनशील योजना प्रदान करने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार के उपन्यासों में एक व्यक्ति या ऐसे व्यक्तियों के समूह का चित्रण रहता है, जिनका एक-दूसरे के साथ पारिवारिक या बौद्धिक सम्बन्ध रहता है। इस क्षीण आधार को लेकर जिस उपन्यास की रचना होगी उसमें वह सुसंगठित स्थापत्य नहीं पाया जा सकता, जो साधारणतः उपन्यासों में अपेक्षित होता है। किन्तु लेखक की बौद्धिक अन्विति तथा सत्य के लिए आग्रहशीलता 'प्रवहमान उपन्यास' में भी कलात्मक योजना अनुस्यूत कर देती है। यदि लेखक में इन दोनों बातों का अभाव हो तो ऐसा स्थापत्य-रहित उपन्यास सर्वथा निरर्थक प्रमाणित होता है। 'गिरती दीवारें' से हमें निराशा होती है, यह स्थापत्य-रहित

उपन्यास तो है, किन्तु सफल 'प्रवहमान' उपन्यास नहीं।

जिस एक व्यक्ति की जीवन-धारा का विस्तृत वर्णन इस उपन्यास में है, वह एक रीढ़-रहित, ढुलमुल-यक़ीन, कमज़ोर और अत्यन्त साधारण मनुष्य है। इस आदमी में कहीं कोई द्वन्द्व या तनाव नहीं है। वह समाज की 'गिरती दीवारों' का, टूटते और बदलते हुए ढाँचे का, प्रतिनिधि न बनकर, उसमें दुबका रहने वाला दयनीय जीव भर है। वह चोटें सहता ही है, करता नहीं, वह खुद टूट-टूट जाता है, तोड़ कभी नहीं पाता। 'दीवारें' गिर रही हैं, यह सच है। लेकिन उनके गिरने न गिरने से इस आदमी का कोई वास्ता नहीं। कहा जा सकता है कि 'गिरती दीवारें' इस शीर्षक का और इस शीर्षक वाले उपन्यास का, एक-दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। मुख्य पात्र ही नहीं, उपन्यास का वातावरण भी ढहती हुई प्राचीनता और उस पर उठती हुई नवीनता का आभास देने में असमर्थ है। शीर्षक सुन्दर जितना भी हो, सार्थक एकदम नहीं। यदि भगवतीचरण वर्मा के बृहत् उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और अश्क जी की इस रचना का नामकरण मुझे करना होता, और मेरे सामने दो नाम भी होते—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'गिरती दीवारें' तो मैं पहले के लिए दूसरा, और दूसरे के लिए पहला शीर्षक चुनना ही पसन्द करता।

मैं उपन्यासकार से अति-मानव, असाधारण या सबल पात्रों की सृष्टि करने की माँग नहीं करता, जैसा कि कुछ आलोचकों ने इलाचन्द्र जोशी से किया है और जिससे वे क्षुब्ध भी हैं। मैंने अन्यत्र फ़्लाबेयर के इस मत का उल्लेख किया है कि साधारणता इतनी सार्वजनीन और सर्वव्यापक है कि कलाकार उसके चित्रण-वर्णन से बच नहीं सकता, न यही आवश्यक है कि उससे बचने के लिए वह प्रयत्न ही करे।

स्वयं फ़्लाबेयर ने 'बूवार्द पेक्यूशे' (Bouvardet Pecuehat)

लिखकर अपने इस सिद्धांत को व्यवहार में परिणत भी कर दिखाया था। अगर अश्क जी ने इस दृष्टिकोण से 'गिरती दीवारें' की रचना की होती तो उनके प्रयत्न की मौलिकता का अभिनन्दन करने वाला कम-से-कम एक आलोचक तो उन्हें अवश्य प्राप्त होता, जो इन पंक्तियों का लेखक भी है। उसमें उनके जिस उद्देश्य का इंगित है, जिस सामाजिक आलोचना का दावा है, उससे असाधारण हलचल, विराट् परिवर्तन, ध्वंस और निर्माण की युगपत प्रक्रिया और जीवन के चरित्रों के दर्शन की ही उम्मीद बँधती है। और सैकड़ों पृष्ठों के इस बृहत्काय उपन्यास के अध्यवसायपूर्ण अध्ययन के बाद हम पाते हैं सिर्फ़ एक उपेक्षित किशोर, ग्रामीण और ग्राम्य-युवक, असफल सहकारी-सम्पादक और लेखक-कवि के कुंठित व्यक्तित्व का दयनीय इतिहास, जिसका सबसे बड़ा कृतित्व शायद यह है कि वह अपनी पत्नी की छोटी और सुन्दर बहन से छुक-छिपकर प्रेम करता है और उससे बुरी तरह से फटकार खाता है।

अश्क आधी मंज़िल पर

●

शमशेरबहादुर सिंह

इस नाविल का हीरो कौन है—बस्ती ग़ज़ां, जालंधर, लाहौर और शिमला की तंग बोसीली गलियों के नीचे-नीचे मकान और उनकी दीवारें (जो उनके बीच रहने वालों की क़िस्मत पर हर तरह से छा जाती हैं) या इन बस्तियों का तंगदस्त, तंगदिल छोटे बाबू लोगों का दबा-घुटा तबक़ा (जिस पर हाय-हाय की फटकार बरसती ही रहती है) या कि इस तबक़े की कहानी सुनाने वाला उस तबक़े का एक भावुक नमूना, खुद चेतन ?

मध्यवर्ग का यह व्यक्ति चेतन, अपनी अकेली हस्ती को बहुत बड़ी चीज़ समझता है। यह बड़ी और क़ीमती चीज़ जब ठोस हक़ीकत की चट्टानों से टकराती है, तो जतन से पाले हुए उसके सपने, प्यारी-प्यारी विडम्बनाएँ और सुनहरे आदर्शवाद सिसकियाँ लेने लगते हैं। ठोकरों-पर-ठोकरें, ज़हर के घूँट-पर-घूँट, अन्दर-ही-अन्दर नफ़रत और गुस्से

के उबाल-पर-उबाल और आखिर हार-थक कर सजीले सपनों का ज़िन्दगी के बाट-बटखरों से समझौता।— और तब वह क़ीमती चीज़ बड़ी दर्दनाक हो जाती है। ईश्वर और धर्म की तरह मनुष्यता, संस्कृति, कला, प्रेम और 'मान-प्रतिष्ठा'— सब पूँजी के बाज़ार में ही अपनी असली क़ीमत रखते हैं, इस सच्चाई को चेतन बहुत-सी कारी चोटें खाकर सीखता है। चुपचाप अपने आँसू घूँटकर वह सीखता जाता है।

वह पहले 'प्रकृति' की गोद में अपनी चोटें छिपाता था, तो अब 'कला' की शरण में आ जाता है—क्योंकि इसमें, 'अपने कटु वातावरण से उसके पलायन' में 'आत्माभिव्यक्ति' का सुख है, और तभी उसको कुछ त्राण मिलता है, कुछ !...... मगर 'कला' में भी उसको नजात का असली रास्ता नहीं मिलता। क्योंकि वह अभी तक अपनी अकेली हस्ती को बहुत बड़ी चीज़ समझता है। हालांकि वह पूरे सिलसिले की एक कड़ी है, उससे अलग कुछ नहीं—है ही नहीं।

—मगर अभी उसने सारी कड़ियाँ कहाँ गिनीं ?

चेतन असल में 'गिरती दीवारें' का हीरो नहीं। इसका असली हीरो एक-के-पीछे-एक लगा हुआ इन कड़ियों का वह सिलसिला है, जिनके बग़ैर चेतन महज़ हवा में हाथ-पाँव मारने वाली एक छाया की तरह रह जाता है। इस सिलसिले के सबसे भरे-पुरे और सजीव व्यक्ति हैं—चेतन की माँ—सब्र और संतोष की देवी—उपन्यास में शायद सबसे कामयाब चित्र; उसका बाप, नशे और क्रूरता का देव; उसके बड़े भाई साहब, जो हर खरखशे से बचने के लिए छड़ी उठाकर बाहर निकल जाते हैं; कुंती—उसके प्यार की पहली चीज़ और उसके सबसे गहरे प्रेम को पाने वाली नीला और इस प्रेम की आड़—उसकी भोली-भाली बीवी, चंदा। और चेतन की समाजी ज़िन्दगी को बनाने-बिगाड़ने वाले और दूसरे लोग, जैसे 'हुनर' साहब—शहरों से छोटे क़स्बों में आकर रंग जमाने वाले शायर; सरदार

जगदीश सिंह—समाज के शरीफ़ लुटेरों के हाथ का खिलौना; ख़ास तौर से कविराज रामदास—चेतन-जैसे होनहार नवयुवकों का 'भला करने' और उनकी प्रतिभा को 'चूसने वाली' एक सबसे मोटी, सबसे चिकनी और चालाक और अच्छी-भली जोंक और प्रकाशो और मन्नी और दुर्गादास और इनके अलावा लाहौर के म्युज़िक कालेज के प्रोफ़ेसर और गेटी थियेटर का पूरा हलक़ा, वग़ैरह-वग़ैरह। इन सब लोगों का पूरा फ़िल्म जिस पर्दे पर चलता है, चेतन वह पर्दा है। इस हंगामे से अलग वह सिर्फ़ एक छाया है, जो आपको कभी-कभी उदास कर देती है। कभी-कभी बहुत उदास कर देती है। क्योंकि वह सारा फ़िल्म उसी पर अंकित हुआ है। अश्क ने खुद उसको एक कैनवस का स्थान और दर्जा दिया है। वह कैनवस ख़ासा बड़ा है, इसमें सन्देह नहीं।

'गिरती दीवारें' इस कैनवस पर, हर उस घटना, दुर्घटना, आशा, आकांक्षा, सफलता, असफलता, प्यार और चोट का, उनकी ऊहा-पोह का उपन्यास है जो निचले मध्यवर्गीय जीवन का ताना-बाना कसते और ढीला करते हैं—या बुनते हैं। हर गली-कूचे और मकान-ड्योढ़ी के परिचय, और घर-बाहर के अपने-पराये के सम्बन्ध से एक सस्ते ओछेपन की बू आती है, ज़िन्दगी के हर मोड़ पर सीलन की-सी ठहरी हुई ग़लीज़ बेशर्म! बू और हर चीज़, हर बात के अन्दर एक हाय-हाय-भरी बेकार-सी जी-तोड़ और जान-मार कोशिश... जिसका नतीजा आख़िर में एक दीन, विपन्न, दयनीय रूप से मुस्कुराती हुई हार, लाचारी और समझौता।

बस यही रंग है हर तरफ़ इस निचली मध्यवर्गीय दुनियाँ का। चेतन के व्यक्तित्व के ऊपर से एक समझौते का एक खुरंड जब उतरता है, तो नीचे से दूसरी खाल समझौते के लिए तैयार होकर निकल आती है। ये खुरंड भी इस व्यक्ति में उन दीवारों का नमूना है, जो उसे समाज में हर तरफ़ से और बहुत दूर तक एक-के-बाद-एक, घेरे चली गयी है। चेतन ने इन दीवारों के नक़्शे बहुत तफ़सील के साथ

बनाये हैं। बस्ती-बस्ती इनकी नीवें गल चुकी हैं... सीली, बदबू-भरी तंग, अँधेरी, नीची दीवारें—चंगड़ों का मोहल्ला, बस्ती ग़ज़ां, रुल्दू भट्टा... और इनके निवासी रूढ़ियों के कमज़ोर पुतले। गाली-गलौज, पाखंड, व्यभिचार, ढकोसले, दिखावे, रूढ़ ईर्ष्याएँ, पल-छिन सस्ती बेईमानियाँ...। बीसियों दीवारों की तो एक-एक ईंट तक अपनी कहानी कलाकार चेतन को सुना चुकी है। हर घटना, हर बात एक कहानी। यह सही है कि इनमें बाज़-एक कुछ ज़रूरत से ज़्यादा तूल खींच जाती हैं, जैसे गेटी थियेटर के सिलसिले में एक अध्याय तो नाटक पर निबन्ध ही हो गया है। या इससे पहले सरदार जगदीश सिंह जी का क़िस्सा।

मगर मध्यवर्ग का पाठक इस उपन्यास में अपने वर्ग के एक परिवार का नमूना इतनी नज़दीक से देख लेता है, उस परिवार का अन्दर-बाहर उसके पीछे और आगे का भरा-पुरा 'क्लोज़-अप' चित्र और इतनी तरफ़ों से लिया हुआ उसकी आँखों के सामने आता है कि इसका जोड़ उसे हिन्दी के किसी एक नाविल में कम—और शायद ही कहीं—मिलेगा।

इस नाविल का संतुलन यानी सँभाल इसलिए मुश्किल भी हो जाता है और इस मुश्किल ज़िम्मेदारी को अश्क पार भी कर गये हैं, मेरी निगाह में—कि चारों तरफ़ से डाली गयी लाइट में बार-बार चमक उठने वाले चेतन के आगे-पीछे और चारों तरफ़ के सीन और चित्र इतनी सारी कहानियाँ बन जाते हैं, कि नाविल के रूप में उनका तार, उनकी बँधी हुई लड़ी, टूटने-टूटने को और एकदम ढीली-ढीली-सी होने को हो जाती है; खतरा यह पैदा होने लगता है कि एक-एक अध्याय कई छोटी-मोटी कहानियों का, और फिर पूरा नाविल ऐसी ढेर-सी कहानियों का संग्रह बनने लगता है और फिर आखिर में निबन्ध-जैसे शुरू हो जाते हैं (अश्क उर्दू-हिन्दी के एक बहुत सफल कहानी-

लेखक हैं और यह शायद उनका दूसरा मगर महत्वपूर्ण पहला ही, नाविल है) मगर इन कहानियों के गुच्छों को खासे लपेटे देकर, उनके तार अलग-अलग न लटकने देकर उनका एक लम्बा रस्सा—मुख्य कथानक का—बना दिया गया है। मुमकिन है उपन्यासकार की यह कोशिश—उपन्यास की यह जुज़बंदी—बाज़ पाठकों को कहीं-कहीं असफल-सी लगे, यानी ढीली। मगर मेरा खयाल है कि दुबारा पढ़ने पर—और इसके कितने ही हिस्सों को फिर से पढ़ने की इच्छा होती है—नाविल काफ़ी कसा हुआ मालूम होगा।

'गिरती दीवारें' का टेकनीक हमारे पुराने मंदिरों की मूर्ति-कला की याद दिलाता है, जिनकी दीवारें मूर्तियों से भरी होती थीं। एक बीच की बड़ी मूर्ति फिर अगल-बगल दो-चार—उससे छोटी, फिर इनके चारों तरफ़, इन मूर्तियों की कथा चित्रित करती हुई छोटी-छोटी अनेक मूर्तियाँ—देवी-देवता, उनके गण और उनके सेवक, और उनकी लीलाएँ।

दीवार हमारे सामने खड़ी है। मगर हम जानते हैं कि वह गिर रही है। रंग तो उड़ ही चुका है, उसके पलस्तर भी सब ढीले-ढाले हो चुके हैं। अब नये ज़माने की चोटों में वह और सँभल न सकेगी।... 'गिरती दीवारें' के सभी पात्रों में मध्यवर्गीय जीवन का गया-बीतापन, उसकी सस्ती ढीला-पोली, उसका बासी रूखापन, उसका बेहँसी की हँसी लिये हुए चेहरा, उस जीवन के व्यक्तियों की कीड़ों-सी तड़पन, पतिंगों की-सी हाय-हाय, बिलबिलाहट...जिसका इलाज है, बस, फ़िनैल का एक सैलाब।

...दीवारें हैं कि दीमकों का भट—वैद्य रामदास, हुनर साहब, चेतन के बड़े भाई साहब, जगदीश सिंह, खुद चेतन के घर के लोग, दादी और माँ और बाप और ससुर, बीवी और भाई और चेतन खुद—सब के सब जैसे कविराज रामदास की ही किसी नयी पुस्तक के ('विवाह

आदि के भेद' सीरीज़ में !) पात्र और उसके ख़रीदने वाले अलग-अलग रोगी हों। धुन का ढेर। रोग-कीटाणुओं के घर।

...टी० बी० के मरीज़ों का खाली किया हुआ जैसे कोई घर, जिसके कमरों में ज़रूरत है कि आग की लपट दिखाकर उसे 'शुद्ध' कर दिया जाय।

खुद चेतन 'हीरो', जो इन सारी वास्तविकताओं से धीरे-धीरे सचेत होता जाता है, रोगी है। उसका रोग नीला, उसकी साली, नहीं—या 'ही' नहीं। कितनी सही फ़बती है कि वह गेटी थिएटर में ज़ाफ़रान (बाँदी) बनता है और ऐनक पहने स्टेज पर चला आता है और उसको ख़बर नहीं कि सारा हॉल क्यों हँस रहा है। मध्यकालीन दरबार में इस बाँदी की नाक पर ग़लती से प्रतिभाशाली लेखक वाली ऐनक रखी रह गयी है, वह और नीचे खिसक आती है। और सारे हॉल को भी ख़बर नहीं कि वह अपने ही ऊपर हँस रहा है। एक 'पैंटालून' है वह।

नाविल-भर में चेतन पर जो इस बेदर्दी से प्रहार हुए हैं, वे निम्न-मध्यवर्ग के खोखलेपन को, उसके ख़ाली-पोलेपन को आखिर में और भी आँखों के आगे मूर्त कर देते हैं।—जहाँ नीला की शादी दूर-पार बर्मा में एक अधेड़ से हो रही है, जिसके जवान भतीजे की आँखों में नीला खड़ी हँस रही है—वही ग़रीब नीला, चेतन की सबसे प्यारी चीज़; बेचारा चेतन,—आँखों से जीवन के उपहास का आखिरी (आख़िरी ?) पर्दा उठ रहा है। 'गिरती दीवारें' का आखिरी सफ़र ख़त्म हो जाता है। मगर 'गिरती दीवारें' ख़त्म नहीं हुई हैं, न उनका गिरना।

इसलिए यह उपन्यास ख़त्म नहीं होता है, अधूरा रह जाता है। जहाँ आकर यह उपन्यास 'ख़त्म होता है', वह आधी मंज़िल का विराम है। इसका 'परिशिष्ट' गिरी हुई दीवारें या नयी नीवें, जिनमें मज़बूत गिट्टी कूटकर भरी जा रही हो है, और चेतन (क्योंकि वह 'चेतन'

है—लेखक का स्पष्ट ही, स्थानापन्न) उनको देख रहा है। 'गिरती दीवारें' सन् ३०-३१ के आस-पास का निम्न-मध्यवर्ग है। अभी तो—लौट के 'बुद्धू' घर आया है।

चेतन ने बुद्धिजीवी कलाकार की राह पकड़ ली है। यह राह असंतोष की है, झल्लाहट, और अपने और दुनिया-भर के ऊपर क्रोध की है। इन झल्लाहटों यानी उनके कारणों को दूर करने की है। अपने-आप को बदलने की है, यानी समाज को बदलने की। भागने की नहीं ......बग़ावत की है।

अभी चेतन के आगे बहुत-से पर्दे उठने बाकी हैं। सन् ३०-३१ के बाद हमारा समाज एक बहुत तेज़-रौ कहानी है।

सन् ३०-३८ के चेतन या तो अब तक खत्म हो लिये होंगे 'श्रीमान्', 'शर्मा जी' या 'माननीय' बनकर, या वे सचमुच अपने समाज की नयी चेतन-शक्ति बनकर, वे कलाकार बुद्धिजीवी, अपने समाज को उठा रहे होंगे, अन्यथा वे ज़िन्दा नहीं रह सकते, उन गिरती दीवारों के बीच—जिनमें बहुत-सी तो सन् ४८ तक आप ही गिर चुकी होंगी। अगरचे 'गिरती दीवारें' के आवरण पर 'पहिला भाग' कहीं नहीं लिखा हुआ है, मगर मैं समझता हूँ कि इसके बहुत-से पाठक इसकी कथा के अंदर से साफ़ उसको पढ़ लेंगे और अश्क के दूसरे नाविल का सब्र के साथ इंतज़ार करेंगे।

●

लेखक के आत्मदान में चूक

●

डॉ० देवराज उपाध्याय

यह अश्क जी का शायद दूसरा उपन्यास है। 'अश्क' जी ऐसे लेखकों में से हैं, जिनके हृदय में यह धारणा बद्धमूल-सी है कि प्राचीन परम्परा में आमूल परिवर्तन के बिना आधुनिक युग के मानव के पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर नहीं मिल सकता। इतना ही नहीं, वे तो यहाँ तक बढ़कर घोषणा-सी करते दीख पड़ते हैं कि प्राचीन लौह-सीखचों में पड़ी मानवता का दम घुट रहा है, उसे साँस लेना दूभर हो रहा है, यदि चाहते हो कि उसकी जान बच जाय तो शृंखला को तोड़ कर स्वच्छ वायु में विहार करने दो। विशेषतः रोटी और सेक्स की सहूलियत होनी ही चाहिए। रोटी की चाहे एक क्षण न भी हो, पर सेक्स की सहूलियत अवश्य हो। नहीं तो सेक्स का दबाव अर्द्ध-चेतन और अचेतन मन में जाकर ऐसी सड़ाँध पैदा करेगा कि हमारा सारा जीवन विषाक्त हो जायेगा—हो जायेगा क्या, हो रहा है, और नब्बे

प्रतिशत समाज की उलझन हमारे कुंठित सेक्स का परिणाम है। यह स्पष्टतः फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र का हमारे साहित्य पर प्रभाव है। और यदि इस विचारधारा का उचित प्रयोग हो तो सचमुच इसमें हमारे समाज को उन्नत करने की अपार सम्भावनाएँ अंतर्निहित हैं।

'गिरती दीवारें' की यही व्यंग्यात्मक ध्वनि है। यों तो प्रसंगवश और भी बहुत-सी सामाजिक बुराइयों का निर्देश आ ही गया है, मध्यवर्ग के परिवार में किस तरह कलह का तांडव होता रहता है, हवा से लड़ने वाली स्त्रियों के कारण परिवार किस तरह नरक में परिणत हो जाता है, इस तरह के परिवार के नवयुवकों को जीवन-संघर्ष में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है इत्यादि बातों की चर्चा भी है। दुनिया को धोखा देने वाले साहित्यिकों, सम्पादकों और दूसरों का शोषण करने वाले, मीठी छुरी से हलाल करने वाले कविराजों की तथा नाटकों की अच्छाइयों और बुराइयों की बातें भी आ गयी हैं।

किन्तु वे सब प्रसंगवश आते हैं, मुख्य सुर वही है। पुस्तक की पोर-पोर में, गाँठ-गाँठ में फ्रायड की सेक्स सम्बन्धी भावना की ध्वनि स्पष्टरूप से सुनायी पड़ती है। चेतन इस उपन्यास का नायक मध्यवित्त परिवार में उत्पन्न व्यक्ति है और उसके हृदय के किसी कोने में जीवन के उन्नायक तत्व वर्तमान हैं और वह सोचता ज़रूर है कि इधर-उधर खेतों में मुँह मारना, उगती-बढ़ती फसल को दूषित करना, पकड़े जाने पर दंड पाना, अपमानित होना, सभ्य, सुशिक्षित, सुसंस्कृत व्यक्ति के के लिए उचित नहीं है। पर परिस्थितियों, अर्थात् दमित भावनाओं ने उसके अन्दर एक ऐसी दुर्बलता पैदा कर दी है कि इन आदर्शों की टेक बाह्य परिस्थिति की पहली ठोकर पर ही छिन्न-भिन्न हो जाती है और वह बिना पेंदी के लोटे की तरह लुढ़क पड़ता है। चाहे प्रकाशो हो, चाहे मन्नी हो, चाहे नीला हो, चाहे वह नेपाली लड़की हो—सब जगह उसकी वासना प्रबल हो उठती है और वह उसी के संकेत पर

नाचने लगता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि लेखक की उस पर कृपा है, अतः साधारण परिस्थितियों में ऐसे व्यक्तियों को जिस दंड का अधिकारी होना पड़ता है, उससे वह बेदाग़ बच गया है। चेतन के चलते बेचारी नीला को किन परिस्थितियों की नारकीयता में तिलतिल कर जलना पड़ा होगा, इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है।

लेखक के पक्ष में अवश्य कहा जा सकता है कि एक मध्यवर्गीय और रूढ़िग्रस्त परिवार में उत्पन्न व्यक्ति का, आज के शोषण और आर्थिक वैषम्य के युग में दमित और अवरुद्ध भावनाओं के कारण जिसके मानस की अवस्था मंत्र-नियंत्रित विषधर की तरह हो जाती है, जो चाहता है कि ऐसी फुफकार मारे कि समाज के पुर्ज़े-पुर्ज़े हवा में उड़ जायँ—चित्रण करने में उसने पर्याप्त ईमानदारी से काम लिया है और उसकी इच्छा है कि लोग उसके दिल के दर्द को समझें और इस समस्या को सुलझाने की राह पर पैर रखें। पर साहित्य में महज़ ईमानदारी से काम नहीं चलता, हालांकि यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण वस्तु अवश्य है। लेखक के लिए यह भी आवश्यक है कि उसने जिस जीवनोत्कर्ष को देखा है, उसे पाठक को दिखा सकने की क्षमता भी उसमें अवश्य हो। नहीं तो साहित्य हमारे लिए जीवनोपयोगी नहीं रह जायगा। उसमें वह रस नहीं रहेगा, जिसके आस्वादन से हृदय में एक लोकोत्तर चमत्कार के साथ गम्भीर तृप्ति होती है। हो सकता है कि आज के युग में, जब समाज की जड़ को हिला देने और ईंट से ईंट बजा देने का नारा बुलन्दी पर हो, उस समय रस और उसकी लोकोत्तरता की बात कुछ अन-जँची-सी लगे, पर यदि साहित्य को 'स-हित' के साथ रहना है तो उसकी आत्मा के भोग के साथ सम्बद्ध होना ही पड़ेगा, उसे हमारी इन्द्रियों को चटखारे देने की अपेक्षा हमारी आत्मा को स्पर्श करने और अपनी अपील उस तक पहुँचाने की ओर अग्रसर होना ही पड़ेगा। यहीं पर साहित्य समाज-सुधार के अन्य साधनों

से अलग होकर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करता है, क्योंकि उसकी अपील सीधे आत्मा की ओर होती है। इसी अर्थ में साहित्य को प्रोपेगैंडा भी कहा जा सकता है।

'गिरती दीवारें' के लेखक में समाज के प्रति इतनी कटुता है, इतनी आग है कि वह उसे भस्मसात् कर देना चाहता है। पर वह इसके लिए हिंसात्मक हो उठता है और उसे 'लाभालाभौ जयाजयौ' का कुछ भी ज्ञान नहीं रह जाता, मानो बालक अपने इच्छावरोध के कारण उन्मत्त हो उठा है और वह पत्थर पर सर पटक देना चाहता है।

अब रह जाती है बात उपन्यास की बाह्य रूप-रेखा की। बाह्य रूप-रेखा का भी अपना महत्व अवश्य होता है, पर वह अंतर्प्रेरणा से अलग नहीं होती, उसी से अनुप्राणित होती है, उसकी झलक झिलमिलाती नज़र आती है। इस उपन्यास की कथात्मक-टेकनीक में नूतनता नहीं, वही प्रेमचंद की शैली है, लेखक की कल्पना जहाँ कथा का सूत छोड़ती है तो वह निकलता ही जाता है, टूटता नहीं। पर जब मैं इस बेरोक और अटूट प्रवाह की बात को कहता हूँ, उस समय मेरा ध्यान लेखक की कारयित्री प्रतिभा की ओर ही है और उसी के दृष्टिकोण से यह बात मैं कह रहा हूँ। मेरे कहने का अर्थ यह नहीं कि कथा में किसी तरह के जोड़-तोड़ का अनुभव पाठक को नहीं होता। कितने ऐसे स्थल हैं, जहाँ पर कथा की प्रगति के साथ लेखक का हस्तक्षेप बुरी तरह खटकता है।

किसी भी उपन्यासकार या साहित्यिक की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसकी जादू की छड़ी इस तरह फिरे कि पाठक की आलोचनात्मक बुद्धि को जागरित होने का अवसर कम-से-कम मिले। यही कारण है कि हमारे यहाँ काव्य के लक्षणकारों ने यह नियम-सा बना दिया था कि किसी भी महाकाव्य के एक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि बार-बार छंदों के बदलते रहने से पाठकों

को कठिनता होती है। यदि आप ऐसी कोठरी में रहें, जहाँ रोशनी क्षण-क्षण जलायी और बुझायी जाती रहे तो आप अपने को विचित्र अवांछनीय अवस्था में पायेंगे। वही अनुभूति इस उपन्यास के पाठक को भी होती है। हम कथा पढ़ते चले जाते हैं, आनन्द लेते चले जाते हैं, तब तक लेखक चेतन की पुरानी जीवनगाथा का सूत छेड़ देता है और हमारा ध्यान कथा की प्रगति से हटकर उधर चला जाता है, और जब तक उसकी पुरानी गाथा में रस आने लगता है कि लेखक आगे की कथा लेकर चल निकलता है। पाठक इस तरह की झकझोर और उठा-पटक के बीच अपने को असहाय पाता है। मेरे जानते कथा-सौष्ठव की दृष्टि से यह बात सर्वत्र पायी जाती है। उदाहरण के लिए चेतन की शिमला-प्रवास की बात लीजिए। चेतन के उस प्रवास में दुर्गादास की कथा ला घुसेड़ी गयी है। उपन्यास का अंतिम अंश, जिसमें 'अनारकली' इत्यादि नाटकों की आलोचना-प्रत्यालोचना की बातें की गयी हैं, अत्यधिक रूप से ऊपर से चिपकाया गया-सा मालूम पड़ता है।

आजकल लोगों में जीवन के व्यापक दृष्टिकोण से समस्याओं पर विचार करने की शक्ति कम होती जा रही है और यह सब होता है यथार्थवाद और व्यावहारिकता के नाम पर। हम आज कामचलाऊपन (Expediency) के लिए मौलिक आधारभूत तत्वों (Fundamentals) की अवहेलना करने लगे हैं। 'गिरती दीवारें' इसका उदाहरण है। उसमें कोई ऐसी प्रेरणा नहीं है जो हमारे जीवन के उन्नायक तत्वों को विकसित करने में सहायक हो। मैं यह नहीं कहता कि लेखक ने लाठी लेकर हाँकने की कोशिश क्यों नहीं की, गलेला देकर उपदेशामृत पिलाने का प्रयत्न क्यों नहीं किया, पर मेरी शिकायत यह है कि यह उपन्यास सब मिलजुलकर हृदय में चुभता क्यों नहीं, इसमें एक खोखलापन-सा क्यों नज़र आता है, लेखनी गम्भीर क्यों नहीं दीखती है, हमें यह ऐसी चीज़ क्यों नहीं देता जिसे पाकर हमारा हृदय लेखक के प्रति कृतज्ञता

से भर जाता ? कहीं-न-कहीं तो उसके आत्मदान में चूक ज़रूर है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि चेतन के जीवन-प्रवाह की घटनाओं में हम अपने ही जीवन की झलक पाते हैं, लाख कोशिश करने पर भी उसकी सत्यता में अविश्वास नहीं कर सकते। उसमें वर्णित घटनाएँ छाया की तरह हमारा पीछा करती हैं और उनसे पिंड छुड़ाना कठिन है। और नहीं तो आज के कुंठित जीवन का आभास तो इस उपन्यास के पढ़ने से अवश्य ही मिलेगा और उस विरति के ज्ञान से उसे पूरा करने की प्रेरणा भी स्वाभाविक रूप से लोगों में जागेगी। हम अपने जीवन की प्रचलित प्रणालियों को मुड़कर देखने पर बाध्य होंगे और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में हमारे अंदर कुछ उत्कर्ष विधायक ऐसी चीज़ अवश्य हो जायेगी। उपन्यास की सफलता के लिए यही क्या कम है।

निम्न-मध्यवर्ग का तटस्थ चित्रण

●

डॉ० धर्मवीर भारती

आप कभी जालन्धर गये हैं ? शायद नहीं। कम-से-कम मैं तो नहीं गया। किन्तु इस उपन्यास के पहले अध्याय ने ही मुझे अलफ़लैला के उड़ते हुए क़ालीनों की तरह सशरीर उड़ाकर जीते-जागते हुए जालन्धर के बीचों-बीच ले जाकर खड़ा कर दिया। यह 'बाजियों वाला' बाज़ार है, यह चौरस्ती अटारी है, जहाँ तहमद बाँधे लट्ठे की कमीज़ें पहने, पान से मुँह लाल किये हुए दो गाने वाले सास-बहू की लड़ाई का महाकाव्य गा रहे हैं; यह सूदाँ है, यह बाज़ार शेखां है और यह छत्ती गली के दीनू हलवाई की दूकान है। और इधर-उस दुबले-पतले इकहरे बदन के युवक को देख रहे हैं आप ? वह तेज़ी से बड़ा बाज़ार की ओर जा रहा है। आप जानते हैं वह कौन है ? वही है चेतन, इस उपन्यास का नायक, जिसकी कहानी अश्क ने इन ७०० पृष्ठों में बयान की है।

उपन्यास का सबसे पहला गुण मैं यह मानता हूँ कि वह उपन्यास न मालूम पड़े। उसका नायक अख़बारी काग़ज का पुतला या हाथीदाँत की मूरत न हो, हाड़-मांस का, हमारे-आपके-जैसा, सामान्य व्यक्ति हो, जिसको हम छू सकें, जो हमें छू सके, और इस दृष्टि से पिछले कुछ साल के उपन्यासों में मैं अश्क के इस उपन्यास को शायद सबसे सफल मानता हूं। उन्होंने एक ऐसा नायक दिया है जिस पर कोई नक़ाब नहीं, कोई बनावटी ऊपरी चेहरा नहीं, वह जैसा है अन्दर-बाहर एक-सा है। वह अपनी कमज़ोरियों पर गिलट का मुलम्मा नहीं चढ़ाता, वह उन्हें ज्यों-का-त्यों सामने रख देता है। आप उस पर हँसना चाहें हँसें, रोना चाहें रोयें। स्वयं उपन्यासकार दोनों के उचित क्षण जानता है, हँसाने के भी और रुलाने के भी।

अश्क ने इस उपन्यास में निम्न-मध्यवर्ग की ज़िन्दगी का चित्रण किया है। निम्न-मध्यवर्ग के एक युवक के मन में अपने भावी जीवन के क्या-क्या सपने होते हैं, वह किन परिस्थितियों में पैदा होता है, किन परिस्थितियों में उसका विकास होता है, कौन-से संघर्ष उसे झेलने पड़ते हैं और इनके दौरान में उसके मन पर कैसे संस्कार पड़ते हैं और वे उसे किस ओर ले जाते हैं, इसका बहुत ही यथार्थ चित्रण अश्क ने किया है। जैसा मैंने पहले कहा कि उन्होंने अपनी ओर से कोई मुलम्मा चढ़ाने का प्रयास नहीं किया है, वे बहुत सीमा तक तटस्थ हैं और मेरे विचार से यह कथाकार के लिए एक अनिवार्य गुण है। यदि वे तटस्थ न रहते और कुछ भावुक आदर्शवादी लेखकों की तरह ढाल लेकर चेतन की समस्त कमज़ोरियों की रक्षा करने लगते, उसके पक्ष में दलीलें देने लगते और उसके गुणों को बहुत बढ़ाकर और फुलाकर चित्रित करने लगते तो यह उपन्यास अन्य कितने ही साधारण द्वितीय श्रेणी के भावुक और लचर उपन्यासों की श्रेणी में आ जाता। इस बात का भी खतरा था कि वे उपन्यास की सम्यक काव्य दृष्टि तोड़कर किसी

विशेष वर्ग—किसान-मज़दूर आदि को बिना जाने-बूझे, उनके पक्ष में उनकी ओर से तलवार खींचकर खड़े हो जाते और चेतन की परिस्थितियों, संघर्षों और ईमानदारी को समझे बिना उसको पतनोन्मुख मध्यवर्ग का प्रतीक मानकर उसके विरुद्ध जंग का ऐलान कर देते। लेकिन अश्क ने बड़ी ही कुशलता से अपनी कला-सुलभ निरपेक्षता की रक्षा की है। ऐसा नहीं है कि अश्क ने केवल फ़ोटोग्राफ़िक चित्रण मात्र कर दिया है। नहीं, उन्होंने प्रयास किया है कि वे मन में गहरे उतरकर हमारी छोटी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करें और कभी उन पर प्रछन्न व्यंग्य करके, कभी उनमें छिपी ट्रेजिडी का निरूपण करके, उन प्रवृत्तियों का संस्कार करते चलें।

वास्तव में ट्रेजिडी और व्यंग्य, इन दोनों के मूल में एक विरोध या विषमता छिपी रहती है। वैसे तो व्यंग्य के बहुत से स्थल इस उपन्यास में हैं, किन्तु उदाहरण के लिए हम कविराज का प्रसंग और चेतन के शिमले के जीवन पर दृष्टिपात करें। यहाँ पर विषमताओं की कई ग्रन्थियाँ पड़ी हुई हैं। चेतन की महत्वाकांक्षा और उसकी परिस्थितियों का विरोध, कविराज के सिद्धांतों और कार्यों का आपसी विरोध, शिमले के जीवन और चेतन के पुराने संस्कारों का विरोध, चेतन के आन्तरिक खोखलेपन और बौद्धिक विद्रोह की असंगति। और इन समस्त विषमताओं ने उस स्थल को उपन्यास का सबसे सजीव और मर्मस्पर्शी स्थल बना दिया है। इस स्थल में ट्रेजिडी और व्यंग्य दोनों ही एक-दूसरे से गुँथ कर चलते हैं। इस प्रसंग का एक बहुत मार्मिक स्थल वह है, जहाँ बीमार और खिन्न चेतन को साथ लेकर कविराज जी की धूर्तता का विस्तृत चित्रण किया गया है। किस प्रकार कविराज ने चेतन के साथ हमदर्दी दिखाकर उसके मन का स्नेह जीत लिया, किस प्रकार अपनी पत्नी के शील-स्वभाव की गाथा गाकर वे चेतन को अपने काम से ५० रुपये प्रति माह पर शिमले ले गये, किस प्रकार उससे शिशु-रोगों पर

एक पुस्तक लिखकर अपने नाम से छपा लेने का इरादा भी व्यक्त कर दिया, किस प्रकार जब शिमले पहुँचकर उसका भ्रम टूटने लगा और उसने पाया कि कविराज की पत्नी सहृदय नहीं, बल्कि कठोर, स्वार्थी और संकीर्णमना है, किस प्रकार एक चारपाई के लिए भी कविराज ने उसे संसार-भर के कर्मठों की जीवन-गाथा सुना डाली और कड़ाके की सर्दी में भी उसे अपने स्नानागार के निकट नहीं फटकने दिया, किस प्रकार एक विज्ञापन लगवाने के लिए वैद्य जी ने मन्दिर जाकर महावीर जी के पुरोहित के चरण छुए......यद्यपि वे आर्य-समाजी थे। इस सारे चित्रण के उपरान्त पाठक के मन में उनके लिए एक घृणा का भाव निःसन्देह उत्पन्न हो जाता है। किन्तु यहीं पर एक स्थल ऐसा आता है जो अश्क की मर्मभेदी दृष्टि का परिचय देता है। वैद्य जी चेतन को लेकर झरने पर जाते हैं और वहाँ शिमले की भीड़-भाड़ और बनावट से दूर झरने का निर्मल संगीत कविराज के मन का प्रसुप्त मधु-संगीत जगा देता है और वे चेतन को एक गीत सुनाने लगते हैं :

तेरी डाची दे गल विच टल्लियाँ,
वे मैं पीर मनावन चल्ली आँ।

और इसके बाद का वर्णन स्वयं लेखक के शब्दों में सुनिए :

'चेतन ने सोचा कि आयुर्वेदाचार्य के स्थान पर वे गायनाचार्य क्यों न बने ? उसके ऐसा गला होता तो वह अवश्य एक निपुण गायक बनता। इतना अमृत, इतनी मिठास ! यह कहीं बन्द करके रखने की चीज़ है ? वह तो उन्मत्त गाता फिरता, अपनी तानों से अपने वातावरण को गुँजाता फिरता, रस की धारें बहाता फिरता। यह सोचते-सोचते एक नयी श्रद्धा से उसका मन प्लावित हो गया, वह भूल गया कि कविराज शोषक हैं, व्यापारी हैं, दुनियादार हैं। उसके सामने रह

गया केवल उनका कलाकार, जो अनायास अपने आवरण को उतारकर गा उठा था, रह गया केवल मानव, जो उस स्वच्छन्द स्थान में अपने अस्वाभाविक बन्धनों से मुक्त होने के लिए तड़फड़ा उठा था।'

और कविराज के अन्तस्तल में छिपे हुए इस महज़ मानवीय रूप का इतना कुशल चित्रण अनायास अश्क के कथाकार के प्रति एक नयी श्रद्धा जाग्रत कर देता है। सारे संघर्ष और पीड़ा को जान लेने और उनको चित्रित कर देने के बाद भी इस व्यक्ति की क़लम कुंठित नहीं हुई, कड़वी नहीं हुई है। वह फिर भी प्रत्येक की मानवीयता को समझ पाने और उसे चित्रित कर देने की शक्ति रखती है और यह शक्ति जिसमें है, वह उसका उचित उपयोग करने से प्रथम श्रेणी का कलाकार बन कर रहता है, इसमें सन्देह नहीं। उसकी दृष्टि मलिन नहीं होती, एकांगी नहीं होती, संकीर्ण नहीं होती।

किन्तु फिर भी इस उपन्यास को लेकर हिन्दी में जो चर्चाएँ हुई हैं, उनमें कई दिशाओं से इस उपन्यास के नायक के विषय में असन्तोष के दबे हुए स्वर आते रहे हैं और कुछ ने तो यहाँ तक कहा है कि इस उपन्यास का नायक 'टुच्चा' है। वास्तव में हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि वह नायक विकार की किस अवस्था में है, कि उसके सभी पुराने कवित्वमय सपने टूट रहे हैं, वह ऐसी यथार्थ दुनिया को छू रहा है जहाँ संघर्ष बहुत तीखा है, हरेक शोषक है और दूसरे का शोषण करने के लिए व्यग्र है। किन्तु ऊपर से हरेक ने कविराज जी का-सा चेहरा लगा रखा है, हमदर्दी और मुहब्बत का—जिसके नीचे हरेक की ज़बान खून चूसने के लिए प्यासी है। वास्तव में सहानुभूति, प्रेम, सामाजिकता, सभी केवल चेहरे हैं, जिनके नीचे घृणा, शोषण, हिंसा तथा हत्या छिपी हुई है। तथापि उसके भी नीचे कहीं दबी हुई मनुष्यता छटपटाती रहती है, किन्तु चेतन का झुकाव किधर होता है? वह कविराज की व्यवहार-बुद्धि-कुशलता तथा व्यापार-प्रवृत्ति से प्रभावित

होकर उनकी बुद्धि के प्रति अपनी बुद्धि को समर्पित कर देता है। यहाँ पर लेखक स्पष्ट लिखता है 'जीवन की धूर्तता के प्रति चेतन का यह पहला समझौता था।' और इसमें सन्देह नहीं कि इसके बाद से एक धूर्तता की बड़ी हल्की रेखा चेतन के व्यक्तित्व में आ जाती है।

वह धूर्तता उसके प्रणय-प्रसंगों में विशेषतया झलक उठती है। धूर्तता की प्रथम शर्त है अविश्वास, संशय। दूसरे के प्रति, अपने प्रति, जीवन की सहज सरलता के प्रति संशय। वह संशय अनजाने ही व्यक्ति को क्षुद्र बना देता है और इस समझौते के बाद निश्चय ही चेतन क्षुद्र हो जाता है। आधे उपन्यास तक उसका चरित्र अति सामान्य होते हुए भी अपनी निश्छलता में अद्वितीय है। पाठक का सहज स्नेह-विश्वास उस पर रहता है, किन्तु इसके बाद निःसन्देह उसकी धूर्तता पाठक के मन को कहीं-कहीं कचोट जाती है। सबसे अधिक कचोट पाठक के मन को तब लगती है, जब वह अन्तिम परिच्छेद में नीला के पति के भतीजे का रूप तथा तरुणाई देखकर उसके प्रति अविश्वास प्रकट करता है। शिमले से लौटकर आने वाला चेतन निःसन्देह पहले वाले चेतन से छोटा हो गया है, क्षुद्र हो गया है। और यह इस अविश्वास से स्पष्ट है।

ऐसे पात्र समाज में हैं और खूब हैं। इसलिए ऐसे पात्रों के चित्रण का ही विरोध करना और उससे चिढ़ना उसी हब्शी के समान है, जो दर्पण में अपना चेहरा देखकर चिढ़ जाता है। इसलिए जो इस टुच्चे नायक के चित्रण से ही चिढ़ते हैं, उनसे तो मैं कतई सहमत नहीं, लेकिन मैंने यह ज़रूर अनुभव किया कि कथाकार ने जो तटस्थता दूसरे प्रसंगों में अपनायी है उसे वह चेतन के प्रसंग में नहीं अपना पाया है। उसे इस अविश्वास के नीचे भी तड़पते हुए असीम विश्वास और स्नेह की पवित्रता का उतना ही सूक्ष्म चित्रण करना चाहिए था, जितना उसने कविराज के प्रसंग में किया था। किन्तु ऐसा वह नहीं कर पाया

और यहीं पर लेखक की थोड़ी-सी असफलता है। वह उन दीवारों को गिराना चाहता है जिनकी नीवों में कीड़े पल रहे हैं, लेकिन लेखक यह भूल जाता है कि अविश्वास और धूर्तता की दीवार सबसे मोटी और भयानक दीवार है। और उसके मूल में, संशय के मूल में, बहुत ज़हरीले और गन्दे कीड़े पलते रहते हैं और इसलिए कहा गया है कि 'संशयात्मा विनश्यति।' मेरा दृढ़ विश्वास है कि अश्क मानव-विनाश और मृत्यु का संदेश नहीं देना चाहते हैं, इसलिए उन्हें इस संशय और क्षुद्रता के ऊपर अपने नायक को उठाना होगा, उसके मन में धूर्तता के बजाय एक गहन श्रद्धा की प्रतिष्ठा करनी होगी। वह श्रद्धा और विश्वास बाह्य समाज के परिवर्तन में जितनी होगी उतना ही अपने अन्तर के परिवर्तन में भी। वास्तव में उसका मानस रुग्ण है, अस्वस्थ है। उसके अगणित प्रणय-प्रसंग और उसकी अतृप्त वासनाएँ उसके स्वास्थ्य की द्योतक नहीं हैं और यौन-कुंठा की दीवारों को तोड़ना भी उनका इलाज नहीं है। सामाजिकता के लिए व्यक्ति के काम को उच्छृंखल, निर्बाध प्रवाह की अनुमति नहीं दी जा सकती। उसके लिए एक अंकुश और मर्यादा की आवश्यकता बराबर रही है और रहेगी और वह मर्यादा बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा तो अवश्य रखेगी, किन्तु प्रमुखतः वह अन्दर से ही विकसित होगी। और अश्क की सफलता यह होगी कि बाह्य दीवारों को तोड़ने का सुझाव देने के बाद अब उसके अगले भाग में या अपने अन्य उपन्यासों में वे यह भी दिखावें कि किस प्रकार उनका नायक चन्दा की सहानुभूति और प्रेम से प्रेरित होकर अन्दर की क्षुद्रता, धूर्तता, संशय और अविश्वास की दीवारों को तोड़कर एक आत्मानुशासन विकसित कर सामाजिक जीवन में एक स्वस्थ इकाई की भाँति अपना योग देता है। तब तक यही कहना चाहिए कि 'गिरती दीवारें' में अश्क ने आधा रास्ता तय किया है और इसे स्वीकार करना होगा कि इतनी दूर तक लेखक ने कथाकार की उत्कृष्ट क्षमताओं का प्रदर्शन किया है।

●

गर्म राख

डा० भगवतशरण उपाध्याय

शास्त्रीय आलोचनाओं को चुनौती



राजेन्द्र यादव

गर्म राख का यथार्थवाद



अमृतलाल नागर

आशावादी प्रगतिशील उपन्यास



सुरेन्द्रपाल

गर्म राख के कथाचक्र, समस्याएँ तथा समाधान

शास्त्रीय आलोचनाओं को चुनौती

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय

'गर्म राख' उपेन्द्रनाथ अश्क का, जहाँ तक मैं जानता हूँ, तीसरा उपन्यास है। उनके दूसरे उपन्यास 'गिरती दीवारें' का हिन्दी-जगत में अच्छा स्वागत हुआ था। 'गर्म राख' मेरे विचार में उससे कहीं चुस्त, कहीं प्रौढ़ और कहीं व्यापक कृति है।

'अश्क' की प्रेरणा विशेषतः नाटकीय है, इसी से नाटक के क्षेत्र में उनका स्थान काफ़ी ऊँचा है। मैं उन्हें हिन्दी का सर्वोत्तम एकांकीकार मानता हूँ। रंगमंच के अनुकूल उनकी-सी सुन्दर भाषा लिखनेवाला, निःसन्देह दूसरा नहीं है। प्रसाद-गुण का इतना वैभव कम लोगों में है। भाषा निर्मल जल की भाँति अविरल बहती है, आमफ़हम, जिसका जादू विशेषकर रंगमंच पर, ग़ज़ब ढाने लगता है। उसी भाषा का चमत्कार 'अश्क' के उपन्यासों में भी है, 'गर्म राख' में विशेष।

'गर्म राख' सामाजिक प्रेरणा से लिखी कृति है, यद्यपि समाज की

विषमताएँ उसमें खुलकर नहीं आतीं। हाँ, समाज का निम्न-मध्यवर्ग, अपनी संकीर्ण, घिनौनी प्रवृत्तियों के साथ, निश्चय स्पष्ट खुल पड़ा है। उस दृष्टि से इस उपन्यास का रचयिता कैमरा-मैन है, सफल फ़ोटोग्राफ़र, जो समाज के कोनों-अँतरों को साफ़ झलका देने के सिवा प्रेरणा अथवा सुझाव के रूप में कुछ नहीं दे पाता। 'गर्म राख' के रचयिता का यह सामाजिक 'आलोचन' घृणित और अशिव का छिद्रान्वेषण मात्र है या 'सृजनशील' और निर्माण-प्रेरक भी, उसकी बात मैं फिर करूँगा, यहाँ अभी इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि उपन्यास के स्थल, उसके पात्रादि जाने-पहचाने-से हैं। उनका चित्रण इतना सजीव, इतना निकट का है कि लगता है, हम उन्हें जानते हैं और उपन्यास में उनके अनेक मांसल 'मोटिफ़' जीवन में पहचाने-से, आँखों के सामने उठ आते हैं, इतने कि यदि उन मांसल पर्यायों की कोई भंगिमा उपन्यास के चरित्र-विशेष में नहीं घटती, तो उपन्यासकार पर जैसे जी खीझ उठता है। उपन्यास-दर्पण में समाज को प्रतिबिम्बित करने में 'अश्क' बहुत-कुछ बाल्ज़क और ज़ोला की भाँति सफल हुए हैं।

उपन्यास भी साहित्य के अन्य कलेवरों की भाँति जीवन का दर्पण है। कहानी का विस्तार उसमें प्रवहमान जीवन को प्रकट करता है। कहानी के उस विस्तार में कला की दृष्टि से रस का संचरण और परिपाक होता है। घटनाचक्र की एकता वस्तु-गठन के रूप में उपन्यास के रस को कलत्व प्रदान करती है। इससे यह स्पष्ट है कि साहित्य-कला के रूप में अन्य कलाओं की ही भाँति उपन्यास भी अपने रस के प्रभाव से उपास्य होता है। परन्तु रस संचरणशील है, प्रवहमान, इससे प्रवाह-भिन्नता उसका मारक ग्रह है। रस का व्यभिचार उसकी प्रवाह-शक्ति को नष्ट करता है। यह याद रखने की बात है कि कला या साहित्य के गठन में जो घटना या भाव उसके रस का वर्धन नहीं करता, वह निश्चय निश्चेष्ट नहीं रह पाता, वरन् रस को घटाता है।

उपन्यास या कहानी की कथा-वस्तु में इसका ध्यान उपन्यासकार या कहानीकार को सदैव रखना चाहिए, यद्यपि उपन्यास की व्यापकता विपुल होने के कारण कथा अनेक धाराओं में बह सकती है, पर उसकी कथा-वस्तु को भी धारा-बहुलता के बावजूद प्रवाह की रीढ़ से स्वतन्त्र नहीं होना है, वरना मरु में भटकती नदी की भाँति उपन्यास की सोद्देश्यता नष्ट हो जायगी। उसकी प्रखरता अनेक दिशाओं में बँटकर बिखर जाने के कारण शक्तिहीन हो जायगी। इस दृष्टि से 'गर्म राख' पर नज़र डालने से सर्वथा संतोष नहीं होता।

'गर्म राख' की कहानी इस प्रकार है :

सत्या अपनी ही चलायी कन्या-पाठशाला की अध्यापिका है, गम्भीर, समझदार और साधारण सुन्दर, उसके प्रति प्रकट-अप्रकट रूप से अनेक पुरुष अनुरक्त हैं। एक पत्रिका में छपे उसके चित्र से आकृष्ट होकर कवि 'चातक' संस्कृति-समाज की स्थापना करते हैं, जिसका एकमात्र उद्देश्य पहले सत्या, फिर अन्य नारियों को अपनी ओर खींचना है। उसकी बैठक में सत्या तरुण कवि जगमोहन से मिलती है। जगमोहन उसकी ओर आकृष्ट होता है। आकर्षण के जादू का वस्तुतः दोनों के सम्बन्ध में अभाव ही है, यद्यपि उसका भावात्मक प्रभाव जगमोहन पर अधिक प्रकट है। सत्या दृष्टा-स्रष्टा की भाँति उस बढ़ते हुए असर को जैसे देखती है, जागरूक होकर उसका विधान करती है। पर जगमोहन का राग मोह में परिणत नहीं हो पाता और शीघ्र अपने ऊपर डाला हुआ पाश वह तोड़ देता है। दोनों बार-बार मिलते हैं, एक से अधिक बार राग भाव-बन्धन की परिधि तोड़, स्थूलकायिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, पर जगमोहन चाहे परिस्थितियों का शिकार क्यों न हो, सत्या उन परिस्थितियों की सचेत संघटयित्री है। उनको न केवल वह जानती है, बल्कि वही उनका प्रादुर्भाव करती है। उसकी संतुलित आचार-वृत्ति जगमोहन की सब प्रकार से सहायता

करती है, उसके भाई-भाभी को भी, जिससे राग नहीं तो कम-से-कम कृतज्ञता, उससे उसे बाँध रखे। और उसी सहायता के क्रम में मजबूर कर देने वाली परिस्थितियों में बार-बार आत्मसमर्पण कर उसे रागबद्ध करती है। पर वस्तुतः जगमोहन कभी, समय-समय के कायिक सम्बन्ध के अतिरिक्त, सत्या से भाव-बन्धन नहीं रख पाता और एक दिन अपनी प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर, स्पष्ट कह देता है कि उसका सत्या से प्रेम नहीं है। उसके आदर और प्रेम-भाव को विछिन्न करने में दुरो के प्रति उसकी सहज अनुरक्ति भी सहायक होती है। वह एक दिन स्पष्टतः अपनी भाव-स्थिति पत्र में लिखकर सत्या को दे देता है। उधर सत्या के कांग्रेसमना पिता के कानों में कन्या की असंगत अनुरक्ति की खबर पहुँचती रहती है, जिससे वे उसका विवाह कर देने को लाहौर आ पहुँचते हैं। एक धनी मेजर का विवाह-विज्ञापन समाचार-पत्र में पढ़कर वे सत्या से उस दिशा में स्वीकृति माँगते हैं। जगमोहन की उदासीनता से सत्या पहले से ही कुछ उद्विग्न है, फिर तभी उसका वह असंस्कृत पत्र भी पहुँच जाता है, जिससे वह सत्या के प्रति अपने प्रेम के अभाव की घोषणा तो करता ही है, उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना भी अस्वीकार, उसका अपने यहाँ आना वर्जित करता है। सत्या खीझकर अफ़्रीकावासी भोंडे, काले, कुरूप, अर्धान्ध मेजर से विवाह कर अफ़्रीका चली जाती है। जगमोहन से अन्त में जाते समय स्टेशन पर छोड़ने का अनुनय करती है। जगमोहन वहाँ जाना तो अस्वीकार कर देता है, पर जाता है। यद्यपि मिलता नहीं, प्लेटफ़ार्म पर इधर-उधर घूमता फिरता है। उदासीन सत्या इधर-उधर उसे ढूँढ़ती है, फिर दिल में चोट लिये चुपचाप अफ़्रीका चली जाती है।

'गर्म राख' की यह मूल कथा-धारा है, पर इसके अतिरिक्त उपन्यास में अनेक स्वतन्त्र और परवर्ती धाराएँ हैं। जैसे दुरो-हरीश का कथा-प्रसंग, 'येलोबस-यूनियन'-आन्दोलन, धर्मदेव वेदालंकार और प्रो०

ज्योतिस्वरूप की उपकथा, वसन्त-सरला का प्रसंग, सरदार गुलबहारसिंह, उसके पिता, डा० टेकचन्द, खान का पहेली समस्या-प्रयास आदि। इन प्रसंगों में दुरो-हरीश का कथा-प्रसंग, निश्चय मूल कथा-धारा से नाम-मात्र को प्रभावित है। प्रगतिशीलत्व—साहित्य, धर्मान्दोलन आदि—उसी से अधिकतर सम्बन्धित हैं। दुरो और हरीश के चरित्र (विशेषकर दुरो का चरित्र) इतने सशक्त और महत्व के हैं कि कुछ अजब नहीं कि अनेक लोगों को वे ही नायक-नायिका लगें। कम-से-कम उनकी कथा मूल कथा-धारा की समानान्तर धारा है, वस्तुतः अपनी भूमि पर है, मूलधारा की सहायक के रूप में अनभिसृष्ट। धर्मदेव वेदालंकार और प्रो० ज्योतिस्वरूप की कथा निश्चय परवर्ती है, इतनी परवर्ती कि उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। मूल-कथा की सहायता भी उससे नहीं हो पाती। उनके चरित्र को स्पष्ट करने के लिए उनकी पुरानी इतिवृत्ति आवश्यक हो सकती है, पर उनकी ओर संकेत-मात्र पर्याप्त था। इसी प्रकार शायद 'येलोबस' के प्रोपराइटर चोपड़ा के हिस्सेदार रौशनलाल और हरनामसिंह के इतिहास का वितत्वन यद्यपि अत्यन्त हृदयग्राही है, मूल-कथा को शिथिल कर देता है। इसी प्रकार वसंत का उपयोग उपन्यास का अंग नहीं जान पड़ता, यानी कि अगर यह प्रसंग कथा से हटा दिया जाये तो कथा में कहीं रस-भंग नहीं होगा। सरदार पिता-पुत्र तथा टेकचन्द और खान की पहेली-समस्या भी इसी तरह उपन्यास की कथावस्तु की दृष्टि से अनावश्यक है। ये सारे प्रसंग यद्यपि स्वयं अत्यन्त मनोरंजक हैं और समाज की वस्तु-स्थिति खोलकर रख देने वाले हैं, लेकिन उनसे किसी प्रकार, किसी मात्रा में मूल-कथा को सहायता नहीं मिलती। कवि चातक स्वयं तो मूल-कथा का उद्वाहक है, पर पत्रकार कर्मा और मिसेज़ कर्मा का प्रसंग चातक के चरित्र को उत्तेजित और स्पष्ट करते हुए भी उपन्यास के लिए प्रकारान्तर ही है।

इस दृष्टि से देखने पर प्रकट है कि 'गर्म राख' की कहानी की एकनिष्ठा या समान-केन्द्रियता इन प्रकारान्तर-प्रसंगों से नष्ट हो गयी है। लगता है जैसे समाज के अनेक अंग, विविध कथानक एकत्र कर दिये गये हैं, जिनमें स्वाभाविक अंगांगीय (आर्गेनिक) सम्बन्ध नहीं।

यहाँ उपन्यासकारिता की समस्या पर एक प्रश्न हो सकता है—क्या वजह है कि कथावस्तु की एकता या एकनिष्ठा बरकरार रखी जाये? यह प्रश्न यद्यपि आलोचकों के सामने अभी तक नहीं आया है, पर है यह अहम प्रश्न, क्योंकि आज तक के उपन्यास-शास्त्र का दर्शन कथावस्तु की एकाग्रता को एकमात्र या प्रधान साध्य मानता आया है। अब प्रश्न है, जो उपन्यासकार—प्रस्तुत स्थिति में 'अश्क,' पूछ सकता है कि जीवन जब इतना बहुमुखी हो गया है कि कथा-वट के एक तने में नहीं समा पाता, तो क्यों नहीं वट और पृथ्वी पर अनायास फूट पड़ने वाले भिन्न जातीय वृक्षांकुरों की भाँति, उपन्यास की प्रधान कथा के साथ अनेक उपकथाएँ ऐसी गूँथ दी जायँ, जिनका मूल से अपेक्षाकृत सम्बन्ध बना रहे, यद्यपि वे उसके विकास के अर्थ न लिखी गयी हों, बल्कि समाज के विविध अंगांगों और कोनों-अँतरों को आलोकित करने के लिए प्रस्तुत हुई हों?

वस्तुतः 'अश्क' का यह उपन्यास अद्यावधि अंगीकृत शास्त्रीय आलोचनाओं को चुनौती देता है। और यहाँ मैं आलोचकों का ध्यान प्रस्तुत आलोचना के माध्यम से इस नवीन दिशा की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। हाँ चुनौती यह तभी हो सकता है जब यह प्रयास सचेत हुआ हो। यदि ऐसा नहीं तो निश्चय यह उपन्यासकारिता की एक 'फ़ेलिंग' (कमज़ोरी) ही होगी। प्रयास यह सचेत है या नहीं, यह बगैर व्यक्ति-उपन्यासकार से पूछे हम उसकी सृजित कथावस्तु से भी अंशतः जान सकते हैं। यानी कि अगर उपन्यास के इन विविध अपेक्षाकृत स्वतन्त्र अंगांगों की कल्पना स्तुत्य है, यदि उनका चित्रण,

अंकन, चरित्रांकन, वस्तु अपने दायरे में स्वतन्त्र रूप से भी मुखर और सफल है तो हम उन्हें 'फ्रेंजिंग' नहीं कह सकते। तब तक कहना अनुचित नहीं होगा कि उपन्यासकार यदि चाहता, उनसे अपनी प्रधान कथाधारा को बचा सकता था, यानी कि उसने उनको 'विघ्न,' 'कंटक,' या 'रन्ध्र' न मानकर, मूल के अलंकार भी न मानकर, समाज के उन अनेक अंगों का सूचक (इण्डेक्स) माना है, जिनका बोध कराने में उपन्यास की प्रधान कथावस्तु अक्षम होती है, पर जिनका बोध सर्वथा विषयान्तर नहीं, वरन् 'समवाय सम्बन्ध' से पाठक के लिए अनिवार्य होना चाहिए। इस स्थिति को मान लेने पर यहाँ उन विविध तथाकथित प्रसंगों की चर्चा स्वाभाविक हो जाती है और उन प्रसंगों की कथा या वस्तु-भाग, एकाध को छोड़, इतने महत्व का नहीं, जितने महत्व का उनके पात्रों का चित्रण है। इसलिए उनके प्रसंग और भाव-चित्रण के साथ प्रधानतः हम उनके पात्रों के चित्रण पर विचार करेंगे।

'गर्म राख' उपन्यास चूँकि समाज की अनेक भूमियों का समाहित क्षेत्र प्रस्तुत करता है, उसके पात्रों की संख्या भी बड़ी है, असामान्य। संख्या का आधिक्य अधिकतर साहित्य में एक प्रकार की कमज़ोरी ही माना जाता है, पर चूँकि इसका सीधा सम्बन्ध उस अहम प्रश्न से है, जो हमने पिछले पैराग्राफ़ों में उठाया है, यहाँ हम इस तथाकथित कमज़ोरी पर विचार नहीं करेंगे। प्रारम्भ में ही यह कह देना उचित है कि पात्रों का चित्रण 'अश्क' ने ग़ज़ब की ख़ूबी से किया है। अपने पात्रों को जैसे वह नंगा जानता है, वैसा ही चित्रण उसने किया है, जिससे उनके बाह्यन्तर स्पष्ट झलक जाते हैं। उसके गम्भीर, परुष, हास्यास्पद पात्र अपने सहज आधार से उठते और अपने वृत-व्यास में सहजाकार होते हैं। इतना मांसल, इतना स्वाभाविक, जहाँ-तहाँ इतना प्लास्टिक मूर्तन उनका होता है कि कम-से-कम हँसी के प्रसंग में हँसी रुकती नहीं। भाव और

भाषा के सानिध्य से प्रसंग चमक उठते हैं और हम उपन्यासकार के आभास-जगत से अलग, जीवित संसार में उतर पड़ते हैं।

सत्या का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वह संसार-चतुर नारी है। जगमोहन को अपनी सहायता और गुणों से जीतकर अपना भविष्य बनाना चाहती है। उस बीच जब मौका लगता है उसे बताने या स्थिति से प्रभावित करने के प्रयत्न में भी वह नहीं चूकती कि उसके पिता ने मार्गभ्रष्ट हो जाने पर भी मानवीय कर्त्तव्य को ईमानदारी से निबाहा था और अविवाहिता, इससे समाजतः अनौरस-सम्बन्ध से प्रसूत सत्या का पालन भी किया था। यह प्रयोग वैसे जगमोहन पर लगता नहीं। सत्या में निष्ठा है, बुद्धि है, क्रियात्मकता है, अभिमान है। अभिमान की रक्षा के लिए वह नितान्त भोंडे, अग्राह्य पति को स्वीकार करने में भी पीछे नहीं हटती, यद्यपि ऐसा करना उसके लिए अत्यन्त दारुण हो उठता है।

जगमोहन मुझे तो गँवार-सा लगता है। उसी की स्थिति का वसन्त उससे कहीं सतर्क है। जगमोहन पात्रत्व की दृष्टि से काफ़ी कमज़ोर है। उपन्यास में उसकी सत्ता प्रायः एकान्त होने पर भी उसमें निर्णय और व्यक्तित्व दोनों की कमी है। वह कभी हमें प्रभावित नहीं करता, सिवा शायद उस प्रसंग के जब वह शुक्ला जी या भगतराम के सामने होता है। सत्या के सामने एकांत में उसे परिस्थितियाँ और भी कमज़ोर कर देती हैं और सत्या के अफ़्रीका जाते समय उसका उसके सामने न आना तो खल जाता है। नायक की कमज़ोरी चित्रण की कमज़ोरी से भी हो सकती है और उपन्यासकार के सचेत प्रयास से भी। जगमोहन के चित्रण में यह प्रयास सचेत नहीं जान पड़ता।

उपन्यास का सबसे स्वाभाविक और शक्तिम पात्र दुरो है, कर्मठ और कर्तव्यनिष्ठ अपने और समाज को यथातथ्य पहचाननेवाली जीवित प्राणी, जो जैसे को तैसा कर सकती है और अपने व्यक्तित्व को

किसी छाया से आवृत नहीं होने देती। पंडित रघुनाथ या दाताराम उसके पास फटक तक नहीं पाते, जगमोहन उसके सामने अत्यन्त हीन और हेय है, जो स्वयं उसे पहचानता है, पर दुरो उसके या अपने कर्त्तव्य के बीच वैयक्तिक प्यार को नहीं आने देती। दुरो में संघर्ष की आग है, सामाजिक अनीति के प्रति रोष और प्रतिकार की क्षमता है। वही उपन्यास की सही नायिका होने का सामर्थ्य रखती है। पर उसके लिए 'गर्म राख' का शायद अगला (एक दूसरा) भाग लिखना होगा। हरीश का उदात्त रूप उपन्यास में स्पष्ट है, पर संघर्ष का नेतृत्व इसलिए नहीं खुल पाता कि संघर्ष पुस्तक में दूर तक नहीं खुला और जिस प्रकार उसमें उसकी भूमिका-मात्र सूचित हुई, हरीश की क्रियमाणता भी भूमिका से आगे नहीं बढ़ी।

मज़े की बात यह है कि उपन्यास में मुख्य पात्रों से कहीं बढ़कर उपपात्रों का चित्रण हुआ है। चातक जी इनमें प्रधान हैं। अनेकांश में वे हमारे जाने हुए कवि-प्रतिनिधि हैं। यहाँ उनके चारित्र्य की व्याख्या न कर, हमने संकेत मात्र कर दिया है। शुक्ला जी उसी वर्ग के हीन पात्र हैं, जिसकी स्थिति अपने शिक्षित समाज में अलक्षित नहीं है। पंडित रघुनाथ और दाताराम पानी में रहने वाले खतरनाक घड़ियाल हैं, जो पिता-भाई के दोस्त बनकर समाज में भयानक कारनामे करते हैं, इसका पता उनकी बनावट से जल्द नहीं चलता। इनका 'अश्क' ने अच्छा पर्दा-फ़ाश किया है। यहाँ यह सम्भव नहीं कि प्रत्येक पात्र की शल्य-क्रिया की जाय। इतना कह देना पर्याप्त होगा कि हरीश से नूरा तक, सत्या से दुरो तक और चातक जी की पत्नी तक, चातक, शुक्ला, धर्म, स्वरूप, भगतराम, सरदार आदि सभी समाज के जीवित फड़कते अंग हैं और उनके चित्रण में उपन्यासकार सर्वथा सफल हुआ है।

पर प्रश्न पात्रत्व या चित्रण का नहीं है। इनकी अपनी-अपनी

अकेली शक्ति नहीं है, हो भी नहीं सकती। इनके अपने-अपने वर्ग हैं, अपने-अपने स्तर, जिन पर वे स्वयं भासमान हैं और अपने घिनौने आचरण से अपनी पृष्ठभूमि को भासमान करते हैं। हमारी साहित्यिक परिधि का स्पष्ट 'आर्क' (वृत्त-खण्ड) ऐसे में निर्मित है, जिनमें नीरव, चातक, शुक्ला आदि प्रधान हैं। उनकी घिनौनी स्वार्थरति से जिस वस्तुस्थिति पर प्रकाश पड़ता है, वह उपन्यास की मूल-कथा न होकर भी दर्शनीय है। उनके बनाये संस्कृत-समाज और दुरो-हरीश की गोष्ठी में कितना प्रकारतः-गुणतः अंतर है, यह कहना न होगा। इसी प्रकार स्पष्ट है कि धर्म का व्यक्तित्व भी आज के साहित्य-व्यवसाय की किसी हद तक कुंजी है। ईमानदार, पर 'स्टेण्डर्ड आव लिविंग' की मान-मर्यादा बचाते हुए अनेक अनैतिक कृत्यों के दोषी, ज्योति-स्वरूप स्वयं समाज के एक अंग के प्रतिनिधि हैं। वैसे ही आज की पहेली-दुनिया का भी यथार्थ सरदार पिता-पुत्रों और टेकचन्द-थानेदार की बातचीत में खुल पड़ा है। 'अश्क' ने (उपन्यास के निवेदन में) जो यह दावा किया है—'आम पाठक से प्रार्थना है कि वह नाम के चक्कर में न पड़े, उपन्यास को एक बार पढ़ जाय, निश्चय ही वह उसमें पर्याप्त मनोरंजन पायगा।' अन्यथा नहीं है, क्योंकि उपन्यास में मनोरंजन की भूमि अनेकतः और प्रायः सर्वत्र प्रस्तुत की गयी है। इस दृष्टि से उपन्यासकार सफल हुआ है। परन्तु उपन्यास का उद्देश्य क्या बस यही है? उपन्यास क्या समस्याओं का हल नहीं देता? यह सही है कि 'गर्म राख' के विभिन्न प्रसंग अपनी स्वतंत्र व्यंजना लिये प्रस्तुत हुए हैं—जहाँ तक हमारे समाज के घिनौने स्तरों को खोलकर रख देने की बात है, उपन्यासकार निश्चय अपने मन्तव्य में सफल हुआ है, पर उसके आगे वह हमें नहीं ले जा पाता। सत्या किनारे लग गयी है। पर दुरो और हरीश के संघर्ष-अध्यवसाय अविकसित रह जाते हैं। वही वस्तुतः उसकी सफलता की कसौटी भी होता। हमारे घिनौने

सामाजिक रूप खुलकर ज़रूर सामने आये हैं, पर उनका हल क्या है, यह नहीं तय हो पाया। दुरो और हरीश का आन्दोलन आगे बढ़कर जो अपने विविध रुखों में खुल पाता तो सारी समस्याओं का समाधान शायद मिल जाता। मार्क्सीय दृष्टिकोण इतना सार्वभौमिक दृष्टिकोण है कि वह अपने अर्थाधार पर टिके समाज के साहित्यादि सभी प्रकरणों का हल माँगता है। उपन्यास को आगे बढ़ाना ज़रूरी था। काश कि उपन्यासकार उस गुह्य का उद्घाटन कर पाता। हम आशा करते हैं कि 'अश्क' 'गर्म राख' के उत्तरार्ध के रूप में इसका अगला भाग लिखेंगे, जिसमें अपने विकृत समाज की कल्याण-चेतना की ओर भी संकेत होगा।

गर्म राख का यथार्थवाद

•

राजेन्द्र यादव

यदि लेखक और आलोचकों के दाँव-पेंच छोड़ दिये जायँ और केवल कृति और आलोचना को ही लिया जाय तो 'गर्म राख' के विषय में आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। कहना पड़ता है कि 'गर्म राख' के प्रति आवश्यकता से अधिक उपेक्षा दिखायी गयी है। उपेक्षा इसलिए नहीं कि वह कोई ऐसा चकाचौंध उत्पन्न कर देने वाला उपन्यास निकला था कि लोगों ने क्यों नहीं उसे हिन्दी का अकेला उपन्यास घोषित कर दिया, और न उपेक्षा इसलिए कि उस पर बोलने की आवश्यकता अनुभव करते हुए भी लोगों ने 'चुप-चुप' कहकर उसके साथ वही व्यवहार किया, जो 'घेरे के बाहर' के साथ हुआ। हो सकता है कि 'गर्म राख' उतना महान उपन्यास न हो, जितना लेखक का दावा है कि पाठक उसे साल में दो बार रामायण की तरह पढ़ें, और यह भी हो सकता है कि वह इतना निर्दोष भी नहीं कि 'कटखना' आलोचक मज़े

में कड़े बादाम की तरह अपने दाँत आज़माता ही रह जाय, लेकिन यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि 'गर्म राख' में अपनी एक मौलिकता है और यह हिन्दी की वर्तमान उपन्यास-परम्परा से इतनी अधिक अलग है (बचाव के लिए चाहे आगे उसे फ़िलहाल न कहें) कि सहसा ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रहती। जब हम इस मौलिकता का गम्भीरतापूर्वक विश्लेषण करें तो कह सकते हैं कि 'गर्म राख' चाहे हिन्दी की नयी उपन्यास-परम्परा का एकदम निर्दोष, सर्वश्रेष्ठ उदाहरण नहीं, वह उपन्यास के एक नये मोड़ का सशक्त प्रतीक अवश्य है। उस पर उचित ध्यान दिया जाना चाहिए था। खास तौर पर इसलिए कि 'गर्म राख' की मौलिकता विषय-वस्तु या रूप का ऐसा कोई प्रयोग-कौतुक नहीं है कि अचानक पाठक को चौंका दे और वह मानने को विवश हो कि ऐसा उपन्यास पहले नहीं लिखा गया, बल्कि उसकी मौलिकता ही यह है कि वह वस्तु और रूप दोनों में इतना साधारण है कि हिन्दी में उतनी सादगी देखने में नहीं आयी।

'गर्म राख' का यथार्थवाद ही वह सबसे बड़ा तत्व है जो उसे हिन्दी की उपन्यास-परम्परा से अलग और विवेच्य बना देता है। इस यथार्थ-वाद को समझने के लिए हमें सबसे पहले देखनी होगी 'गर्म राख' की कहानी।

यह एक अत्यन्त ही साधारण लोगों की कहानी है, जिनमें से कुछ साहित्यिक जीव होते हुए भी असाधारण अथवा अपसाधारण नहीं हैं, असामान्य अवश्य हो सकते हैं। और चूँकि यह मध्यवर्ग का बुद्धजीवी वर्ग है, अतः ऐसी असामान्यता क्षम्य है। इसके साथ ही यह कहानी बहुत ही सरल ढंग से कही गयी है।

'चातक' जी ऐसे रसिक-हृदय कवि हैं, जो हर नयी युवती की तस्वीर देखकर नयी कविता बना डालते हैं। और उसे वे अपने हृदय

की सम्पूर्ण अनुरक्ति प्रदान करने में नहीं हिचकिचाते। इस प्रकार के शत-प्रतिशत कवियों की तरह उनके पारिवारिक जीवन और 'बायरन'-जैसे इस रोमानी जीवन में कहीं कोई संगति नहीं बैठती, इसलिए अपने घर से वे सदैव कतराते हैं। अपने मित्र गोपालदास के यहाँ 'मालती' में सत्या जी की तस्वीर देखकर एक कविता बना डालते हैं और 'संस्कृति-समाज' की कल्पना उनके दिमाग़ में आती है, जिसके द्वारा वे इस मृगनयनी के सम्पर्क में आ सकते हैं। 'संस्कृति-समाज' के चपरासी-नुमा सेक्रेटरी के लिए याद किया जाता है, जगमोहन। जगमोहन उपन्यास का नायक है। 'संस्कृति-समाज' का काम शुरू होता है और जगमोहन सत्या जी से पहली बार मिलता है। जैसा कि इस अवस्था के किसी भी युवक के लिए असम्भव नहीं है, वह आकृष्ट होता है सत्या जी की ओर। और परिणामस्वरूप दो-चार बार उसके घर लस्सी पीकर जब सत्या जी उसके आकर्षण को निमन्त्रण देने लगती हैं तो वह ठण्डा पड़ जाता है। कम-से-कम उतनी तत्परता नहीं दिखाता जो प्रारम्भ में थी। उसके सपनों का केन्द्र हो जाती है दुरो। फिर भी सत्या जी और जगमोहन की घनिष्ठता बढ़ती जाती है। आगे बढ़ने के लिए वे उसकी आर्थिक कठिनाई भी हल करती हैं, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उसकी मदद करती हैं और दो-एक बार ऐसी भी परिस्थितियाँ आती हैं जब सत्या जी और जगमोहन निकटतम आते हैं। लेकिन लगता ऐसा है कि शरीर की पुकार उसे सत्या जी की तरफ़ लाती है और सपनों की रोशनी उसे दुरो की ओर खींचती है। दुरो प्रेम करती है हरीश से—हरीश एक सामाजिक कार्यकर्ता हैं और वे साम्यवाद में विश्वास करते हैं। जीवन को देखने का उनका दृष्टिकोण इतना साफ़, कटा-छटा और इतना युक्तिसंगत है कि जगमोहन उन्हें अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं मान पाता, उल्टे श्रद्धा ही करता है। सच पूछा जाय तो प्रतिद्वन्द्विता की बात भी उसके मन में नहीं आती। हरीश का व्यक्तित्व शुरू

से ही उसे इस प्रकार ढँक लेता है कि उनके सामने अपनी असहायता पर सिवाय एक गहरी साँस लेने के, वह कुछ नहीं कर पाता और मन-ही-मन दुरो के प्यार को सँजोये रखता है। उसकी भाभी के द्वारा सत्या जी की शादी के प्रस्ताव उसके सामने आते हैं, जिन्हें वह स्वीकार नहीं करता और अन्त में, जब उसके सीने से लगी वे स्पष्ट विवाह का प्रस्ताव करती हैं, तो एक पत्र लिखकर वह मना कर देता है। फिर जैसे उसे चिढ़ाने के लिए सत्याजी अपनी रज़ामन्दी अफ़्रीका में रहने वाले एक सज्जन को दे देती हैं, जगमोहन को विवाह में निमन्त्रित करती हैं और फिर कोशिश करती हैं कि जगमोहन पिघल जाये, लेकिन जगमोहन नहीं पिघलता। वे अफ़्रीका चली जाती हैं, तब कहीं जगमोहन उनके प्रति एक करुणा से अभिभूत हो उठता है। उस समय वह अपनी स्थिति का विश्लेषण करता है तो पाता है कि उसके प्रेम का यह आख्यान भर्तृहरि के इस श्लोक की व्याख्या मात्र बनकर रह जाता है :

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता।
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यरक्तः
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या।
धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥

और तब उसे उसी प्रकार की विरक्ति घेर लेती है, जैसे कभी कवि भर्तृहरि ने अनुभव की थी। लेकिन उसके इस बीमार प्रेम की तुलना में चलता है हरीश का प्रेम, जो प्रेम का एक स्वस्थ रूप सामने रखता है। यह प्रेम से विरक्त होकर उसकी प्रतिक्रिया को रोकता है और 'फ़ैज़' की ये लाइनें :

और भी ग़म हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा।
राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा॥

उसकी मानसिकता को एक स्वस्थ दिशा में ढालने का संकेत करती हैं। यहाँ उपन्यास का अन्त है।

लेकिन अश्क हिन्दी का पहला उपन्यासकार है (निश्चित रूप से मैं 'सितारों के खेल' के उपन्यासकार को नहीं ले रहा) जो कभी भी अपने उपन्यासों की कहानी को वर्ग, समाज और तत्कालीन परिस्थितियों से एकदम काटकर अपने पात्रों में, उनके ड्राइंग-रूमों, कमरों या रेल के डिब्बों में से ले जाते हुए भी केवल उन तक सीमित नहीं रखना जानता। दिल्ली के प्लेटफ़ार्म पर एक-दूसरे को विदा देते हुए 'रेखा' और 'भुवन' जैसा वाटर-टाइट खोल आपको अश्क में नहीं मिलेगा। वह हर समय आपको अनुभव कराता रहेगा कि यह ऐसे लोगों की कहानी है, जो आदमियों के बीच में रहते हैं, जिनके कुछ सामाजिक सम्बन्ध और सम्पर्क हैं, स्तर और स्थितियाँ हैं और उनका जीवन नदी के द्वीप का जीवन नहीं है, जहाँ 'सो' और 'गुड फ़्राइडे' के अलावा और कोई हो ही न। अपने बहुत-से मित्रों की तरह मेरा भी दावा है कि एक शहर अपनी अधिकतम विशेषताओं के साथ किसी भी उपन्यास में अभी तक शायद ही इतना मुखरित हुआ हो, जितना लाहौर 'गर्म राख' में हुआ है। वह इसलिए नहीं कि अश्क ने लाहौर की पूरी टॉपोग्राफ़ी या नक़शा बयान कर दिया है। नहीं, वहाँ की भीड़-भाड़, वहाँ की धूल-धक्कड़, क़हक़हे, गन्दगी, भैंसों की पूँछों से उछलती हुई कीचड़, ताँगे, फ़ैशन, सुबह-शाम, स्त्री-पुरुष, पंजाबी गालियाँ और सम्बोधन, सब-कुछ इतने सजीव और उभर-कर आये हैं कि जब आप उपन्यास समाप्त करते हैं तो लगता है, जैसे लाहौर के उसी वातावरण में रहकर आ रहे हों*। यही वजह है कि प्रस्तुत

***हर शहर की अपनी एक आत्मा होती है और अश्क ने लाहौर की आत्मा को पकड़ा है। अब लाहौर, वह लाहौर नहीं रहा तो उसका महत्व और भी बढ़ जाता है।**

उपन्यास में जगमोहन के साथ शुक्ला जी, कवि चातक, हरीश, वसन्त, प्रोफ़ेसर स्वरूप, धर्मदेव वेदालंकार, रघुनाथ शास्त्री से लेकर दर्जनों छोटे-मोटे चरित्र अपनी विशेषताओं सहित आये हैं, जो कहानी के वातावरण में आवश्यकतानुसार रंग भर जाते हैं। हालाँकि शास्त्रीय शब्दावली में ये पताका और प्रकरियाँ, हमें प्रेमचन्द की उपन्यास-शैली की याद दिला देती हैं— जहाँ एक से अधिक कथाओं को एक साथ चलाने का प्रयत्न किया गया हो—खास तौर से हरीश और दुरों की कहानी, जो केवल जगमोहन के बीमार और 'छिपकली-से' प्रेम की तुलना में लायी गयी हो।

बहुत काफ़ी और कहीं-कहीं अत्यन्त साधारण अंतर होते हुए भी, सामान्य पाठक 'गर्म राख' और 'गिरती दीवारें' की कहानी में अधिक अंतर नहीं कर पाता। कभी-कभी तो लगता है कि वह केवल ज़रा-सा परिवर्तन करके एक ही कहानी सुने जा रहा है। उसके कुछ मुख्य कारण ये हैं :

● 'गर्म राख' की कहानी उसी वर्ग के लोगों की और लगभग उसी ढंग से कही गयी कहानी है, जिस प्रकार कि 'गिरती दीवारें।'

● दोनों में स्थान और परिवेश, अर्थात लाहौर की ज़िन्दगी भी उसी ढंग से प्रस्तुत की गयी है।

● दोनों का काल भी लगभग एक ही दशक में आता है, जब कि उस वर्ग या उस स्थान की मौलिक या बाह्य परिस्थितियों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखायी देता।

● दोनों के पात्र—प्रमुख पात्र—सामाजिक, पारिवारिक, व्यक्तिगत रुचि और मानसिक बनावट के लिहाज़ से अधिक दूर के नहीं लगते। चेतन की शुभेच्छा नीला को खा गयी और जगमोहन की महत्वाकांक्षा सत्या को। फलतः एक रंगून भेज दी गयी और एक अफ़्रीका चली

गयी। इसी तरह प्रोफ़ेसर स्वरूप और कविराज रामदास का शोषण इत्यादि कई ऐसी बातें हैं, जो बार-बार याद दिला देती हैं कि दोनों का लेखक एक ही है।

'गिरती दीवारें' से 'गर्म राख,' साधारण पाठक की दृष्टि में एक होते हुए भी, कई बातों में आगे है, कइयों में पीछे।

'गर्म राख' के प्रमुख पात्र तीन हैं— जगमोहन, सत्या और हरीश। जगमोहन एक ऐसा पात्र है, जिसके लिए लेखक ने भरसक कोशिश की है कि वह ज़रा भी असाधारण न बने। वह तत्कालीन निम्न-मध्यवर्गीय युवकों के चरित्र का जैसे प्रतिनिधि या टाइप चरित्र हो। वह साधारण मध्यवर्ग की घुटन-भरी परिस्थितियों में बढ़ा-पला है— वही परिस्थितियाँ, वही संस्कार, वही छाप, कमज़ोरी और विशेषताएँ लिये हुए *। ऊँचे स्वप्न और स्वल्प साधन। फलतः मानसिक विकृतियों और ग्रन्थियों का शिकार। जीवन के संघर्ष तथा आर्थिक प्रतियोगिता या सामाजिक रुकावटों ने जिसकी हर महत्वाकांक्षा के आगे एक प्रश्न-चिह्न लगा दिया है, वह खुलकर हँस नहीं सकता, रो नहीं सकता— जो उसकी प्रतिभा, व्यक्तिगत रुचि, सभी को दिन-रात कुचलती रहती है, ऐसी एक मानसिक घुटन उसके दिमाग़ में घर कर गयी है और जिसने उसके अत्यन्त स्वाभाविक सम्बन्ध, प्रेम को भी एक अपराध या पाप की तरह स्वीकार करने को विवश कर दिया है :

***पृष्ठ ११६, 'जगमोहन मध्यवर्ग के उन लाखों युवकों में से एक था, जो बचपन में बच्चे और जवानी में युवक नहीं होते। बचपन से ही जिन पर प्रौढ़ता का रंग चढ़ जाता है, जो एक कदम आगे रखते हैं तो दो बार सोचते हैं फिर पीछे रख लेते हैं, और कई बार इसी आगे-पीछे में ज़िन्दगी के दिन पूरे कर देते हैं। जिनके बचपन में न खिलन्दरापन होता है, न जवानी में अल्हड़पन।**

छिपकली-सी यह मुहब्बत,
आज के युग की लजीली
भीरु
अपने नाम ही के सहम से जो सिमट जाये
तिमिर से आच्छन्न कोनों और अँतरों से
सरक कर झाँकती है।

'ऐसा क्यों है ?' वह सोचता है। प्रस्तुत से वह समझौता नहीं कर पाता और अप्रस्तुत उसे मिल नहीं पाता—यही उसके प्रेम की ट्रेजिडी है, क्योंकि प्रस्तुत को वह झुठला नहीं पाता— 'दुरो उससे बहुत दूर थी, पर सत्या जी नितांत निकट थीं, और अपनी निकटता की याद वे उसे दिलाये रखना चाहती थीं (प्र० सं०, पृ० २१०) उसे न जाने क्यों यह भ्रम हो गया है कि यह नारी, जो इतने दिनों से उसके गिर्द मकड़ी का जाला बुने जा रही है, उसकी सारी प्रतिभा का रक्त चूस जायगी। एक अनचाहे संग को निभाने के लिए वह बाध्य हो जायगा और उसे जीवन-भर बाध्य रहना पड़ेगा। (पृष्ठ ५०८) इसीलिए शायद उनके लिए उसके हृदय में प्रेम न था। होता भी तो विवाह करने की उसकी स्थिति न थी (पृष्ठ ३२३) वह साफ़ अपने पत्र में सत्या जी को लिख देता है— 'मुझे यदि आपसे प्रेम होता तो मैं इतना परेशान न होता। पर मुझे आपसे प्रेम नहीं है। शायद आप समझें चूँकि आपने आत्मसमर्पण कर दिया है, इसलिए आप मेरी नज़र में गिर गयी हैं और मैं आपसे घृणा करने लगा हूँ। मैं आपसे घृणा नहीं करता' (पृष्ठ ४५३) और यही नहीं कि उसके अपने प्यार का ज्वार सदैव उतार पर रहा, चढ़ाव उसने देखा ही कहाँ ! (पृष्ठ ५०१) वह कभी-कभी सोचने लगता है 'यह कैसा प्रेम है, जो आदमी को सब-कुछ भुलाकर अपने में तल्लीन कर लेता है। उसके प्रति सत्या का

और हरीश के प्रति दुरों का प्रेम भी क्या वैसा नहीं है ? स्वयं उसे क्यों वैसा प्रेम नहीं होता ? दुरों से उसे प्रेम ही सही, पर क्या वह उसी प्रकार अन्धा है, उन्मादी है, जैसा किट्टी के प्रति लेविन का या व्रोन्स्की के प्रति अन्ना का ? (पृष्ठ ५००) और इसी उलझन में उपन्यास को गति मिलती है। जगमोहन कवि है, लेकिन जीवन के हर पहलू की तरह कविता के प्रति भी वह ईमानदार नहीं है। प्रेम के विषय में उसका कहना है--- 'वास्तव में समाज की वर्तमान व्यवस्था में प्रेम करते हुए भी उसे निबाहना बड़ा कठिन है। मानव की सबसे पहली आवश्यकता पेट की भूख सम्बन्धी है। भरे-पेट और फ़ालतू समय वाला वह निधड़क और बेधड़क प्रेम कहाँ ? हमारे निम्न-मध्यवर्ग में तो और भी नहीं—भूख के बाद प्रेम का नम्बर आता है। (२०८) ऐसी स्थिति में कविता उसके लिए एक नशे की चीज़ है, हृदय की पुकार नहीं। 'जिस प्रकार आदमी चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए नशा करने लगता है, मैं कविता ले बैठता हूँ। मस्तिष्क एकाग्र होकर चिन्ता-मुक्त हो जाता है।' (पृष्ठ २३०)

और उसके बीमार प्रेम की नायिका हैं सत्या जी। जो मकड़ी के जाले की तरह उसे चारों तरफ़ से बाँधती हैं, वह उनके 'जोंक'-सरीखे प्रेम से हर समय भागता है। वे धीरा-नायिका हैं, जल्दी किसी काम में नहीं करना चाहतीं, अधीर होकर भाग उठना उनकी प्रवृत्ति के विरुद्ध है। बस कभी आवश्यकता पड़ने पर ज़रा तेज़-तेज़ चल लेती हैं, कभी जमाव और घुटन आ जाते हैं तो उन्हें पिघलने देना चाहती हैं, उनकी कोई महत्वाकांक्षा नहीं है। अन्त में यह रहस्योद्घाटन कि वे एक कुमारी के गर्भ से उत्पन्न हैं, जगमोहन को उसी स्वप्न-भंग की अवस्था में छोड़ जाता है, जिसमें गोरा★ उस समय अपने-आप को पाता है, जब वह जान लेता है कि जीवन भर भारतीय संस्कृति,

★टैगोर के सुप्रसिद्ध उपन्य.स का नायक।

भारतीय दर्शन और भारतीय राष्ट्रीयता की हर बात का पुजारी वह स्वयं, एक अंग्रेज़ माँ-बाप की सन्तान है। जहाँ गोरा का स्वप्न-भंग मानवता के धरातल पर उसे छोड़ जाता है, वहाँ जगमोहन की सत्या जी के प्रति तटस्थता इस घटना के बाद एक करुणा में बदल जाती है। और वह निर्णयात्मक कदम उठाता है कि उनसे शादी नहीं करेगा।

कहानी कहने की उत्सुकता 'रांगेय राघव' की कला को खाये जाती है और अपने उपन्यास में आने वाली हर नयी कहानी, वे बड़ी निष्ठा से बयान करने लगते हैं। पिछले परिच्छेद की कहानी के चरित्र छूटकर कहाँ गये, क्या हो गये, इसका उन्हें ध्यान नहीं रहता; काफ़ी देर बाद ध्यान आता भी है तो पात्र, काल, स्थान, नाम एक होते हुए भी सब-कुछ बिल्कुल नया, अपरिचित होकर सामने आता है। वही कुछ ढंग अपने चरित्रों के प्रति अश्क का है। अच्छाई यह है कि एक के बाद एक नये पात्र का परिचय कराते हुए भी अश्क को अपने हर नये पात्र की विशेषता का ध्यान रहता है। 'चातक' जी आते हैं तो लगता है कि लेखक 'चातक' जी को ही उपन्यास का नायक बना रहा है, लेकिन 'चातक' जी पाठक को पहुँचा देते हैं जगमोहन तक, जगमोहन लाता है हरीश तक और लेखक के अनुसार उपन्यास समाप्त करके हम देखते हैं कि हरीश और दुरो उपन्यास के नायक-नायिका हैं।

हरीश को लेखक ने भगवान बुद्ध का अवतार बनाकर प्रस्तुत किया है। एक रात उन्हें जैसे बोध हुआ कि यह सारी व्यवस्था कैसी है—'उन्हें पता चल गया कि उनके पिता कैसे रुपया कमाते हैं और सहसा उन्हें उस सारी-की-सारी व्यवस्था से घृणा हो आयी। उन्होंने फ़ैसला कर लिया कि वे उसका अंग न बनेंगे। फिर तो हर जगह वे उपन्यास में विश्वकोष की तरह सामने आते हैं। हर प्रश्न का सही और

स्वस्थ दृष्टिकोण से उत्तर उनके पास है। उनके जीवन का हर पहलू जैसे निश्चित है कि किस समय वे क्या करेंगे। ज़रा प्रेम हृदय में आया तो पीठ थपथपा देंगे, नहीं तो लेक्चर झाड़ देंगे। अश्क ने 'गिरती दीवारें' की भूमिका में लिखा था—'बड़े-बड़े दार्शनिकों ने जीवन की भट्टी में तपकर जो निष्कर्ष निकाले हैं, उन्हें बटोरकर उपन्यास के इस या उस पात्र के मुँह में भर देना कठिन नहीं है, पर मैंने यही अच्छा समझा कि अपने सामाजिक जीवन के जिस कूड़े-कचरे की सफ़ाई मैं चाहता हूँ अथवा जिसकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना मुझे अभीष्ट है, उसको यथार्थता के साथ व्यक्त कर दूँ और पाठकों को निष्कर्ष निकालने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दूँ।' (गिरती दीवारें तृ० सं०, पृष्ठ २३) काश ये वाक्य उन्हें 'गर्म राख' लिखते समय भी याद रहते। इस उपन्यास में जैसे वे बहुत काफ़ी अधीर हो उठे हैं।

आश्चर्य यह देखकर होता है कि जिस यथार्थ के आग्रह ने अश्क को जगमोहन-जैसे साधारण पात्र की कल्पना दी, वह हरीश-जैसे पात्र के समय कहाँ चला गया था। जगमोहन अधिक जानदार पात्र होता, या हरीश थोड़ा अधिक सामान्य होता तो शायद 'गर्म राख' हिन्दी के दो-तीन उपन्यासों में से एक होता। इस समय तो एक गले से नीचे नहीं उतरता—दूसरा याद ही नहीं रहता। हरीश के चरित्र में वे गुण थे कि वह सच्चे अर्थों में आज के समय की माँग के अनुरूप, हीरो बन सकता।

मूल समस्या—अश्क के यथार्थवाद— पर आने से पहले प्रेम की समस्या पर थोड़ी बातचीत आवश्यक है, क्योंकि अश्क ने अपने यथार्थवाद को वही रूप दिया है—अर्थात् आज के निम्न-मध्यवर्ग में प्रेम की स्थिति—और उसी के विभिन्न रूप लेखक ने दिये हैं। कवि 'चातक' का, घर में बीवी होते हुए भी, हर नारी के लिए उत्पन्न हो

उठने वाला साहित्यिक प्रेम, जो उनसे कविताएँ लिखवाता है, रावण को आदर्श प्रेमी बताता है, जिसने प्रेम के लिए सब-कुछ निछावर कर दिया है, उमरख़य्याम के अनूठे प्रेम की आकांक्षा करता है, जिसमें उसने एकांत पेड़ की डाली के नीचे एक रोटी, कविता-पुस्तक, शराब और नागिन-सी ज़ुल्फ़ों वाली साक़ी की माँग की है।

दूसरा प्रेम है शुक्ला जी का, जो हर नारी को देखकर खैनी के रस की तरह उमड़ा पड़ता है और वे उसे बड़ी मुश्किल से सम्हाल पाते हैं; तीसरा है जगमोहन और सत्या जी का प्रेम—बीमार प्रेम, जोंक और छिपकली-सा प्रेम, जिसका आधार मात्र शरीर है; चौथा जगमोहन और दुरो का एकांगी और अफ़लातूनी प्रेम; पाँचवाँ पण्डित दाताराम का—बेटी के सम्बोधन और उम्र वाली सत्या के प्रति, जो एक लिज-लिजी वासना बनकर आँखों में झाँका करता है, या पण्डित रघुनाथ का— जब वे कामातुर हाँफते हुए कुत्ते की तरह जीभ निकाले धूप में घंटों बैठे ताकते रहते हैं। फिर सबसे अधिक स्वस्थ है हरीश और दुरो वाला प्रेम—जो कार्य-क्षेत्र की ओर प्रेरणा देने वाला प्रेम है—प्रेमी को बाँधकर नहीं रखता (एक प्रेम वसन्त और सरला का भी है, जो मानवीय भी है, स्वस्थ भी और व्यावहारिक भी, क्योंकि किसी हद तक हरीश के प्रति दुरो का प्रेम भी प्लेटॉनिक ही है।)

मात्र प्रेम की ऊपरी दृष्टि से 'गर्म राख' को देखना, न केवल एकांगी होगा वरन् लेखक के साथ भी अन्याय होगा, जो समाज का एक संश्लिष्ट चित्र देने की कोशिश करता है—और अब हम पुनः उसी प्रश्न पर उतरते हैं कि अश्क के उपन्यास में चित्रित यथार्थवाद, विशेषकर 'गर्म राख' में—वास्तविक, सही और वांछनीय है? ऐसा यथार्थवाद है, जिसे हम समाजवादी यथार्थवाद—या सामाजिक यथार्थवाद कह सकें?

'गर्म राख' के यथार्थवाद के सम्बन्ध में कुछ शिकायतें इस प्रकार

की जा सकती हैं :

● हिन्दी के कम ही उपन्यासकारों के पास शायद वह चीज़ है, जो अश्क के पास है—चरित्र और अनुभवों की विशिष्टता और विविधता। जिस भी चरित्र या जीवन के क्षेत्र का वह वर्णन करने लगता है तो मालूम होता है कि उसके विषय में वह काफ़ी जानता है, अतः कहीं कतराने या झिझकने की उसे आवश्यकता अनुभव नहीं होती। फिर भी अश्क वह चीज़ नहीं दे सका, जिसकी उम्मीद की जाती थी—इसका पहला कारण है, उसका अपनी क़लम पर अनियन्त्रण। एक विषय, चरित्र पर जब उसकी क़लम चल जाती है तो उसके बाप-दादे, नाते-रिश्तेदार, सात पीढ़ियों का वर्णन वह देने लगता है। शायद कहानी और नाटक में बँधे-बँधे और सधे-सधे चलने की यह प्रतिक्रिया है।

● दूसरी बात यह है कि जीवन और समाज जैसा है, उसे ज्यों-का-त्यों चित्रित कर देने की धुन में वर्णन, स्थितियाँ और विषयान्तर इतने अधिक हैं और इतने अधिक इतिवृत्तात्मक हैं कि उनमें गतिशीलता नहीं आ पाती। उनकी सच्चाई और स्वाभाविकता अद्वितीय और बेजोड़ हो सकती है—लेकिन उनमें सब मिलाकर वह प्रवाह और रोचकता नहीं आ पाती, जो कथा के लिए आवश्यक है।

वस्तुस्थिति को एक यथार्थ कोण से रखा जाय, यहाँ तक तो प्रेमचन्द के बाद अपने समकालीन अधिकांश उपन्यासकारों से अश्क आगे है—लेकिन इस यथार्थ में भी चुनाव की आवश्यकता है, क़लम साधकर लिखने की ज़रूरत है—यह उसने अभी नहीं समझा। इस चुनाव के बिना ही यथार्थ, प्रकृतवाद रह जाता है, फ़ोटोग्राफ़ी बन जाता है—फलतः प्रतिनिधि या टाइप नहीं बन पाता। यथार्थ टाइप न हो, यह उसकी अकलात्मकता का पहला प्रमाण है। यद्यपि कुछ आलोचकों ने जगमोहन को निम्न-मध्यवर्ग के चौबीस-पच्चीस वर्षीय

महत्वाकांक्षी युवक का और हरीश को छोटे पार्टी-नेता का टाइप माना है।

अश्क की इसी प्रवृत्ति के कारण 'गिरती दीवारें' के एकाध आलोचक ने अश्क को प्रकृतवादी माना है और मैं समझता हूँ कि वे सत्य से अधिक दूर नहीं रहे (शिवदानसिंह चौहान 'गिरती दीवारें' को यथार्थवादी मानते हैं और 'गर्म राख' को प्रकृतवादी, जब कि नन्ददुलारे वाजपेयी 'गिरती दीवारें' को प्रकृतवादी मानते हैं और प्रकाशचन्द्र गुप्त 'गर्म राख' को यथार्थवादी।

लेकिन अश्क को प्रकृतवादी कहने वालों ने कभी चिन्ता नहीं की, वे ज़रा खुलकर बतायें, क्यों वे उन्हें प्रकृतवादी मानते हैं? और आखिर उनकी दृष्टि में प्रकृतवाद और यथार्थवाद में क्या अंतर है? प्रकृतवाद शब्द मनुष्य की सभी मौलिक प्रवृत्तियों—काम, भूख इत्यादि को ज्यों-का-त्यों, पशुओं के स्तर तक स्वीकार करने तथा उनका पक्ष लेकर उन्हें प्रतिष्ठित कराने के अर्थ में हिन्दी में आया है। लेकिन जब प्रकृतवाद को यथार्थवाद के साथ तुलना में प्रयुक्त किया जाता है तब उसका एक विशेष अर्थ होता है।

वस्तु का पूर्ण यथातथ्य चित्र देने के लिए क्या आवश्यक है कि उसके हर पक्ष और विवरण का वर्णन किया जाय?—या वास्तविकता पर आधारित उन बिम्बों और कल्पना-चित्रों (इमेजिज़) के द्वारा उस वस्तु को प्रस्तुत किया जाय, जो भौगोलिक, ऐतिहासिक या अन्य वैज्ञानिक दृष्टि से चाहे पूर्ण न हों, पर भाव की दृष्टि से ऐसे हों कि यथार्थ की सम्पूर्णता की एक छाप मन पर छोड़ जाते हों। यथार्थवादी कला के जीवन, जीवन के सच्चे चित्रण का अर्थ ही यह है कि यह यथार्थवादी कलाकृति—(और भी स्पष्ट कहें तो यह यथार्थवादी कल्पना-चित्र) वास्तविक जीवन की छाप या भ्रान्ति का सृजन करे। कोरे जीवन का चित्रण करना कोई मानी नहीं रखता। जीवन और यथार्थ

को प्रस्तुत करने के लिए कलाकार को उसमें से बड़ी सावधानी से उन बिम्बों, कल्पना-चित्रों, और आवश्यक अंशों को छाँटना पड़ेगा, जो उनकी जान हैं। तभी अनावश्यक अंशों को छोड़कर केवल प्रमुख और आवश्यक अंशों द्वारा ही वह एक सम्पूर्ण यथार्थ के उद्देश्य को प्राप्त कर सकेगा। यही चुनाव या विवेक ही प्रकृतवाद को यथार्थवाद से पृथक करता है।

अब सीधे शब्दों में यह दूसरा प्रश्न यों है—क्या मात्र चुनाव और प्रतिनिधि चुनाव ही सब कुछ है? शास्त्रीय शब्दावली में प्रकृत को ऐसे यथार्थवादी ढंग से रखना कि वह सब के लिए सम्प्रेषणीय और साधारणीकरण के योग्य हो जाय, ही सब कुछ है? पूर्णतया प्रकृतवादी मैं अश्क को नहीं मानता, उनका झुकाव यथार्थवाद की ओर है। कहें तो कह सकते हैं कि उनकी एप्रोच यथार्थवादी है और वर्णन प्रकृतवादी। हावी प्रकृतवाद इतना हो गया है कि वह उनके यथार्थवाद के प्रभाव को बड़ा अस्पष्ट कर देता है। अश्क के आदर्श और यथार्थवाद में जो चौड़ी खाई दिखायी देती है, उसका मूल कारण खोजने के लिए एक प्रश्न करना होगा। उनके यथार्थवाद में और क्या ऐसी कमज़ोरी रह गयी है कि आदर्श को अलग से लाकर उन्हें वह 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' रूप देना पड़ा?

अश्क के यथार्थवाद की सबसे बड़ी कमज़ोरी उसका केमराईपन अर्थात् सतहीपन है, जो अपने साथ दो अनिवार्य परिणामों को लेकर आया है। आवश्यक और अनावश्यक के भेद की कमज़ोरी; पात्रों, परिस्थितियों के भीतर देखने की दृष्टि की कमज़ोरी या यथार्थ की अन्तर्धारा का अपरिचय, परिणामतः उस भविष्य के अनिवार्य की पहचान की कमज़ोरी।

कुशल केमरामैन होना बुरा नहीं है और न ही प्रकृतवाद कोई अवांछनीय वस्तु है। लेकिन प्रकृतवाद या फ़ोटोग्राफ़ी में सबसे बड़ा

दोष ही यह है कि उसके द्वारा जो जितना विकसित है, आप उसे ही दिखा सकते हैं। आपके सारे वर्णन और व्याख्याएँ, जो जितना है उतने तक ही सीमित हैं—विकास की सम्भावनाएँ और दिशाएँ उसमें से उभरती आप नहीं दिखा सकते, क्योंकि वहाँ 'यथार्थ गतिशील' नहीं होता, वह गति का स्थिरीकृत टुकड़ा (स्लाइस) होता है। यदि इतनी कीमत चुकाने पर लेखक 'प्रकृतवाद' को स्वीकार करता है तो करे।

शायद यही वजह है कि परिस्थितियों की तरह 'गर्म राख' का हर पात्र सेट मनोविज्ञान लेकर आता है, विकास किसी का नहीं होता। वह 'पाता' और 'छोड़ता' कुछ भी नहीं है। उपन्यासों में सेट चरित्र भी लाये जाते हैं, एक निश्चित मनोविज्ञान के चरित्र बहुत-से उपन्यासों में आये हैं, लेकिन कुशल कथाकारों ने उस स्थिति में एकरसता या उस दोष से बचने के लिए उनके आस-पास या तो इतने गतिशील पात्र रखे हैं या ऐसी विभिन्न परिस्थितियों में उन्हें घुमाया है कि उनका यह दोष अखरने नहीं पाया और उनकी यह कमज़ोरी पकड़ाई में नहीं आती।

केवल बाह्य प्रकृति की बात ली जाय तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि अश्क कहीं-कहीं तो बहुत ही सच्चे और सफल रहे हैं (जैसे वार्तालाप के क्षेत्र में, इनडायरेक्ट फ़ार्म में आये हुए वर्णन, व्यंग्य।) और ये इतने अधिक हैं कि उपन्यास की रोचकता का प्रमुख आधार भी इन्हें कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त लेखक को इनका इतनी अधिक संख्या में ज्ञान है कि वह चलते-चलते अत्यन्त निस्पृह भाव से उन्हें बिखराता चलता है। लोगों की कही हुई बात को पुनः प्रस्तुत करने में या चेष्टाओं की व्याख्या करने में तो अश्क को कमाल हासिल है, और इस जोड़ का दूसरा लेखक नज़र नहीं आता।—जैसे गालियों के अर्थ देना, पहेली का सही अर्थ कर डालने वाले सरदार

की गाली-भरी घोषणा या नूरे की शेखियाँ या 'गिरती दीवारें' में चंगड़ मुहल्ले के वार्तालाप। यही हाल शारीरिक चेष्टाओं का है। शुक्ला जी का मुँह में खैनी भरकर बातें करना; कवि 'चातक' का एक टाँग से दूसरी को खुजाना और बालों की लटें ठीक करना या सहगल साहब का परदाँत दिखाकर हँसना।

कविता के सम्बन्ध में स्थान-स्थान पर आये हुए विवाद सुन्दर हैं, आवश्यक हैं। कवि 'चातक'-जैसे पेशेवर कवियों का केरीकेचर सफल है।

अन्त में 'गर्म राख' नाम का क्या महत्व है, इसकी खोज इसलिए व्यर्थ है कि उपन्यास पूरा नहीं है। जान-बूझकर वही गलती क्यों की जाय, जिसका अश्क ने 'गिरती दीवारें' की भूमिका में मज़ाक उड़ाया है—कि हर आलोचक ने उसमें कोई-न-कोई दीवार गिरती दिखायी है, किसी भी भले आदमी ने नहीं सोचा कि अपनी राय उपन्यास के पूरे हो जाने पर ही क़ायम कर ले। इस उपन्यास में तो 'गर्म राख' के कई अर्थ लग जाते हैं—राख-जैसी जड़ ज़िन्दगी में आदर्श की यह गर्मी—यह मुख्य पात्रों की ओर संकेत है।—राख जैसी बुझी हुई भावनाओं और उम्र में वासना की यह गर्मी—यह 'चातक' इत्यादि अन्य पात्रों की ओर संकेत है।

अभी तक अश्क की या तो प्रशंसा की गयी है या उसे चिढ़ाया गया है। उसके प्रयत्नों का—उन प्रयत्नों का, जिनमें वह ईमानदार है—सफल या असफल, लेकिन ईमानदार विश्लेषण नहीं किया गया। कभी-कभी तो यह प्रशंसा और चिढ़ाने का काम एक ही आलोचक द्वारा हुआ है। यही कारण है कि उसका दृष्टिकोण आलोचकों की ओर कुछ इस तरह का हो गया है कि उसे अपने हर उपन्यास में उनके लिए कुछ-न-कुछ लिखना पड़ता है।

●

आशावादी प्रगतिशील उपन्यास

●

अमृतलाल नागर

सृजनात्मक साहित्य रचने वालों का सर्वांगीण विकास उनकी कृतियों में देखा जा सकता है, इस मत को कसौटी के रूप में स्वीकार कर यदि हम 'गिरती दीवारें' उपन्यास के लेखक श्री उपेन्द्रनाथ अश्क की दूसरी कृति 'गर्म राख' का मूल्यांकन करें तो निश्चय ही यह खरी उतरती है।

उपन्यास वातावरण-प्रधान है। यों कहने को तो एक नायक और नायिका की कहानी एक सूत्र के रूप में इस साढ़े पाँच सौ पृष्ठ के उपन्यास में अवश्य पिरोयी गयी है, पर वास्तव में इस उपन्यास का नायक एक वर्ग है। कवि, समाज-सुधारक, अध्यापक, सम्पादक, ऊँचे दर्जे के विद्यार्थी—आर्थिक और नैतिक दृष्टि से लड़खड़ाते हुए मध्य-वर्गीय समाज का यह तबक़ा इस उपन्यास में बड़ी मार्मिकता के साथ अंकित किया गया है। कवि चातक, धर्मदेव वेदालंकार, शुक्ला जी,

शांता जी और उनके पति भगतराम, हरीश, दुरो तथा जगमोहन और सत्या इस उपन्यास के प्रधान पात्र और पात्रियाँ हैं। कवि चातक अपनी नक्की स्वरों में बोलने वाली अनपढ़, पत्नी से ऊबे हुए, प्रेरणा की तलाश में सदा नयी स्त्रियों से प्रेम करने का प्रयत्न किया करते हैं। यही उनकी साहित्य-साधना है। सत्या नामक नयी कहानी-लेखिका पर डोरे डालने के लिए ही कवि ने 'संस्कृति-समाज' नामक एक संस्था की स्थापना कर डाली। आदर्श, देशभक्ति और जनता के सांस्कृतिक उत्थान के बड़े-बड़े झंडे लेकर छोटे-छोटे व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए स्थापित की जाने वाली सांस्कृतिक, साहित्यिक, सामाजिक संस्थाओं का इतना अच्छा चित्रण अन्यत्र प्रायः कम देखने को मिलता है। ऐसी संस्थाओं का निर्माण कर लोग समाज को कितना धोखा दे सकते हैं, यह बात भी 'गर्म राख' को पढ़कर स्पष्ट हो जाती है। छापे की दुनिया के निकट रहने के कारण ये अवसरवादी लोग, अपने नाम का प्रचार करा-कर, मौका पाते ही चट-से बड़े नेता बन जाते हैं। अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में राष्ट्रभाषा हिन्दी के सेवक बनकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले असभ्य व्यक्तियों के रूप में शुक्ला जी, बहुत ही अच्छी तरह इस उपन्यास में लेखक द्वारा चित्रित किये गये हैं। मैंने ऐसे अनेक शुक्लों को निकट से पहचाना है, इसलिए अश्क की चित्रांकनशक्ति की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता।

जगमोहन और सत्या को एक प्रकार से हम इस उपन्यास का नायक और नायिका मान सकते हैं। जगमोहन और सत्या दोनों ही अपेक्षाकृत अधिक ईमानदार और स्वस्थ-चित्त हैं। हरीश और दुरो भी समाज के कल्याण में सच्चा विश्वास करते हैं। यद्यपि जिस सामाजिक वातावरण में ये लोग रहते हैं, उसका प्रभाव भी इन चरित्रों पर निश्चित रूप से पड़ता है। अर्थाभाव और अतृप्ति के कारण काम-विकार का परिचय जगमोहन और सत्या भी देते हैं। जगमोहन और सत्या

हमारे मध्यवर्ग की बौद्धिक और मानसिक उलझनों के साथ हर जगह सामने आते हैं। भारतीय युवक और युवती जिस प्रकार अपने सामाजिक-नैतिक संस्कारों से बँधकर अपनी इच्छाओं के साथ उलझते हैं, वह चित्र भी सही तौर पर हमारे अधिकांश युवक-युवतियों का प्रतिनिधित्व करता है।

कथा की पृष्ठभूमि विभाजन के पहले का लाहौर है। लेखक नें इस नगर को अपने विभिन्न गलियों, मुहल्लों और बाज़ारों के साथ दरसा कर उपन्यास की यथार्थता में चार-चाँद लगा दिये हैं। जगह-जगह शहर की दीवालों पर चिपके विज्ञापनों तथा शहर की गन्दगी, वहाँ के खान-पान आदि का विवरण इस कहावत की पुष्टि करता है कि 'मनुष्य अपने वातावरण से पहचाना जा सकता है।'

मध्यवर्ग के अनेक पात्र यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उनमें हमें जीवन का स्पर्श मिलता है।

इस उपन्यास में मुख्यतः दूसरे आंदोलन से लेकर सन् ३७ की पहली कांग्रेस-लीग की मिनिस्ट्री तक का काल अंकित है। नये मज़दूर-आन्दोलन और उसकी असफलताओं के चित्र भी हमें इस उपन्यास के अन्तिम भाग में देखने को मिलते हैं।

वातावरण में भूखी रोमानियत उभर कर सामने आती है। लेखक अपने प्रमुख पात्र द्वारा समाज को इससे उबारने का प्रयत्न भी करता है। 'और भी ग़म हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा'—फ़ैज़ की यह पंक्ति इस उपन्यास की थीम बनकर पाठक के सामने आती है। यथार्थ का विश्लेषणात्मक चित्रण इस थीम तक वैज्ञानिक ढंग से ही विकसित होकर पहुँचता। 'गिरती दीवारें' में लेखक जहाँ बहुत-सी समस्याओं को लेकर गूँगा रह जाता है, वहाँ इस उपन्यास में वे समस्याएँ बोलती हैं। इस तरह हम इस उपन्यास द्वारा लेखक की प्रगतिशीलता का परिचय सही रूप में पाते हैं। कुचले-दुबले, बुरे-भले, बुझे मध्यवर्गीय समाज में

जगमोहन और हरीश के रूप में जीवन कहीं दमक रहा है—यह आशावादिता खोखली न होकर वास्तव में प्रेरणादायक है। यथार्थ का पुट देने के लिए जगह-जगह पंजाबी भाषा का प्रयोग किया गया है, जो बहुत ही अच्छा लगता है।

'गर्म राख' अश्क का सुन्दर, सफल उपन्यास है और उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

गर्म राख के कथाचक्र, समस्याएँ तथा समाधान

●

सुरेन्द्रपाल

'गर्म राख' निम्न-मध्यवर्गीय जीवन पर लिखा गया अश्क का दूसरा बृहत् उपन्यास है। पहले उपन्यास 'गिरती दीवारें' में अश्क ने एक निम्न-मध्यवर्गीय प्रतिभाशाली किशोर युवक—चेतन—के जीवन-संघर्ष को उसकी समस्त विषमताओं तथा कुरूपताओं के साथ चित्रित किया था। चेतन मध्यवर्ग की उस चेतना का प्रतीक है, जो कदम-कदम पर पराजित होकर भी विकसित होने से मुख नहीं मोड़ती और अपनी दुर्बलताओं के बावजूद आत्मोत्थान से जिसका विश्वास डिगता नहीं। 'गिरती दीवारें' का पूरा चित्रण-वर्णन चेतन को ही केन्द्र मानकर हुआ है और अन्य पात्रों को केवल उसी अंश तक उजागर किया गया है, जहाँ तक वे नायक के सम्पर्क में आते हैं।

'गर्म राख' 'गिरती दिवारें' से किंचित भिन्न प्रकार का उपन्यास है, यद्यपि पात्र और परिस्थितियाँ दोनों उपन्यासों में लगभग एक-जैसी

हैं, लेकिन वस्तु और शिल्प की दृष्टि से दोनों में यथेष्ट भिन्नता है :

● 'गिरती दीवारें' का नायक मध्यवर्ग का एक पात्र-विशेष है, जब कि 'गर्म राख' का एक वर्ग-विशेष। यही कारण है कि 'गर्म राख' का प्रायः हर प्रमुख पात्र अपने-आप में पूर्ण है और जहाँ भी वह उपन्यास में आता है, नायक बनकर ही आता है।

● 'गिरती दीवारें' में व्यक्तियों के माध्यम से समाज का चित्रण किया गया है और 'गर्म राख' में समाज के माध्यम से व्यक्तियों का।

● 'गिरती दीवारें' का नायक चेतन कथा-सूत्र के संयोजन का माध्यम बनकर आता है, लेकिन 'गर्म राख' में जगमोहन (सबसे प्रमुख पात्र होते हुए भी) ऐसा नहीं करता।

यदि विश्लेषण करें तो परस्पर गुम्फित तीन प्रमुख कथा-चक्रों को 'गर्म राख' में अलग-अलग देखा जा सकता है—पहला चक्र है कवि चातक का, जो उपन्यास के आरम्भ से अन्त तक गतिमान रहता है। दूसरा चक्र है सत्या या जगमोहन का, जिसकी विडम्बना उपन्यास का प्रमुख स्वर बन जाती है। और तीसरा चक्र हरीश का है, जो विस्तार में कम होते हुए भी अधिक शक्ति-सम्पन्न है। फिर छोटे-छोटे अनेक चक्र हैं, जो अपनी-अपनी जगह उतने ही महत्वपूर्ण हैं। वास्तव में लेखक का उद्देश्य निम्न-मध्यवर्ग की पृष्ठ-भूमि में चेतन के व्यक्तित्व का विकास-क्रम दिखाने की तरह किसी नायक-विशेष का चरित्र-चित्रण करना नहीं था, बल्कि इन विशिष्ट कथाचक्रों के माध्यम से बुद्धिजीवी निम्न-मध्यवर्ग की विडम्बना को ही साकार रूप देना था। लेखक के सामने दो कवियों की पंक्तियाँ हैं। एक राजा भर्तृहरि की :

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता

और दूसरी—उर्दू कवि फ़ैज़ की :

और भी ग़म हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा

पहली में निराशावाद और पलायन का संकेत है तो दूसरी में आशावाद और संघर्ष का। 'गर्म राख' में इन्हीं दोनों सिद्धांतों को जीवन की कसौटी पर कसा गया है। निम्न-मध्यवर्ग और विशेषकर बुद्धिजीवी निम्न-मध्यवर्ग के सामने जो दो प्रमुख समस्याएँ हैं, उनमें एक है रोटी की (और रोटी में महत्वाकांक्षा की समस्या भी शामिल है।) और दूसरी है सेक्स की (और सेक्स में प्रेम तथा विवाह दोनों ही शामिल हैं।) इन दोनों समस्याओं ने इस पूरे वर्ग के तन-मन को क्लान्त कर रखा है। निम्नवर्ग के सामने इनमें से केवल रोटी की ही समस्या है और उच्चवर्ग के सामने इनमें से शायद कोई समस्या नहीं। सेक्स की समस्या निम्नवर्ग के सामने है तो विकृति के रूप में और उच्चवर्ग के सामने है तो विलास के रूप में। निम्न-मध्यवर्ग की परिस्थिति को सापेक्ष्य रूप से प्रस्तुत करने के लिए ही 'गर्म राख' में कुछ उच्चवर्ग तथा निम्नवर्ग के पात्र भी लिये गये हैं। निम्न-मध्यवर्ग की रोटी और सेक्स की समस्या को 'गर्म राख' में पूरी तफ़सील और तीव्रता के साथ प्रस्तुत किया गया है। प्रेम तथा दाम्पत्य सम्बन्धी लगभग सभी तरह के चित्र 'गर्म राख' में प्रस्तुत हैं, जो निम्न-मध्यवर्ग में प्रायः दिखायी देते हैं। साथ ही बुद्धिजीवी निम्न-मध्यवर्ग का जीवन-संघर्ष भी अपनी पूरी विविधता के साथ इसमें अंकित हुआ है—इस वर्ग के बुद्धिजीवियों को ज़िन्दगी का साथ निबाहने के लिए क्या-क्या पापड़ बेलने पड़ते हैं, यह चातक जी, शुक्ला जी तथा वेदालंकार जी के चित्रण से सुस्पष्ट हो जाता है।

भावुक-हृदय कवि चातक अपनी अरसिक पत्नी के कारण कुंठित हैं। घर के कुरूप वातावरण से मुक्ति पाने के लिए उनकी छटपटाहट विकृत भले लगती हो, लेकिन है सहज और स्वाभाविक। जब वे हर नव-परिचित युवती को अपनी भावी प्रेयसी के रूप में देखते हैं और अपनी

भावनाओं को व्यक्त करने के लिए झट कविता लिखने बैठ जाते हैं तो उनकी स्थिति हास्यास्पद् लगने लगती है, लेकिन जब वे (अपने को बायरन समझकर) एक हाथ से माथे की लटें पीछे करते हुए किसी लड़की की ओर प्रोत्साहन पाने के लिए बढ़ते हैं और उपेक्षित होते हैं तो उनके जीवन की विडम्बना दयनीय हो उठती है। अश्क ने कवि चातक का चरित्र जिस बारीकी से गढ़ा है, वह अपने-आप में ही एक बड़ी उपलब्धि है। और फिर उनका जीवन-संघर्ष भी कम महत्व का नहीं। घर में कुरूपता और अरसिकता तथा बाहर छल और विश्वासघात से पीड़ित कवि चातक जब कचहरी में क्रान्ति का आह्वान करने वाली अपनी कविताओं की ललित व्याख्या करते हुए अपना दयनीय रूप प्रकट करते हैं तो उस भावुक-हृदय, अव्यावहारिक कवि के प्रति पाठकों के हृदय में अनायास सहानुभूति उत्पन्न हो उठती है। फिर घर-बाहर की विषम परिस्थितियों से आँख मूँद कर परकीया प्रेम की रेत में मुँह गाड़े, शुतुर्मुर्ग की तरह कवि के डैने, जब उनकी चण्डी-रूपिणी पत्नी शुक्ला जी के सहयोग से (जिन्हें कुत्सा तथा पर-दुर्गति में ही परमानन्द प्राप्त होता है) बेतरह नोच डालती हैं तो पाठक चातक जी के प्रति दयार्द्र हो उठता है। लेकिन इतना सब होने पर भी कवि चातक में जीवन के प्रति आस्था है, संघर्ष के प्रति विश्वास है। पराजय का अल्पकालिक प्रभाव ही उन पर पड़ता है, फिर वे किसी उज्ज्वल भविष्य की आशा में अगली योजना में अपना दुख भुला देते हैं—प्रेस बैठ जाने को होता है तो 'रणभेरी' का राग अलाप उठते हैं। उसी राग के फलस्वरूप जेल जाते-जाते बचते हैं तो श्री कर्मा को जमाने और स्वयं जमने के प्रयास में तल्लीन हो जाते हैं और प्रेस-व्रेस, बीवी-बच्चों को भूलकर मिसेज़ कर्मा को रावण के प्रेम का रहस्य समझाने में वे ऐसे रमे दिखायी देते हैं, जैसे उन्होंने जीवन का चरम-ध्येय प्राप्त कर लिया हो और जब उनकी बीवी उन्हें उस

मोह-निद्रा से जगाती है, तो बम्बई के फ़िल्मी जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए कमर कस लेते हैं। चातक जी के जीवन का क्रम प्रायः ऐसा है कि एक बार असफल होने पर वे पलायन का मार्ग ढूँढ़ते हैं और उससे निराश होने पर नये संघर्ष में लग जाते हैं। लेखक ने चातक जी के चरित्र को अपनी पूरी तन्मयता और संवेदना से गढ़ा है, इसमें सन्देह नहीं। ऊपर से भले चातक जी एक ज़नखे-से कवि लगते हों, लेकिन गहराई से देखने पर जीवन-संघर्ष तथा सहज मानव-मूल्यों के प्रति उनकी आस्था स्पष्ट हो जाती है। जगमोहन, जो एक तरह से इस उपन्यास का नायक है, अपनी सहज सहानुभूति तथा आस्था किसी के प्रति रखता है तो वे कवि चातक ही हैं। उसे चातक जी से और चाहे जो शिकायत हो, लेकिन उसके प्रति उनकी सदाशयता में उसे तनिक भी सन्देह नहीं। अपनी तमाम खामियों-खूबियों, हास्यास्पदता और भोलेपन के बावजूद चातक जी का चरित्र 'गर्म राख' का एक अविस्मरणीय चरित्र है।

उपन्यास का दूसरा कथाचक्र सत्या जी और जगमोहन के प्रेम-सम्बन्ध को लेकर चलता है। इसे प्रेम-सम्बन्ध की संज्ञा देना कहाँ तक उचित है, यह एक विवादास्पद बात है। उन दोनों का सम्बन्ध, सच पूछिए तो भागने और पीछा करने वाले का-सा है। जहाँ तक सत्या जी की भावनाओं का प्रश्न है, वे जगमोहन को किसी भी क़ीमत पर प्राप्त करने के लिए दृढ़-संकल्प हैं। उन्हें अपनी शक्ति पर अत्यधिक विश्वास है, इसीलिए दूसरों की ओर निगाह उठाकर भी न देखने वाली सत्या जी जगमोहन के प्रति आत्मसमर्पण तक कर देने में तनिक भी संकोच नहीं करतीं। और जगमोहन की स्थिति उस बच्चे-जैसी है, जिसे शकर में लपेट कर कोई ऐसी कड़वी चीज़ खिलायी जा रही हो, जिसके बारे में, पता नहीं क्यों, उसे पूरा विश्वास हो कि उसे लुंज-

पुंज बनाकर ही छोड़ेगी। शकर के आकर्षण से वह उसे एकाध बार मुँह में रख भी लेता है, लेकिन फिर भीषण परिणाम की बात सोचकर अपनी पूरी इच्छा-शक्ति से उसे थूक देता है। लेखक ने सत्या का चरित्र उस मकड़ी के रूप में चित्रित किया है, जो पूरे आत्मविश्वास के साथ बड़े इत्मीनान से किसी पतंगे के चारों ओर अपने जाल का ताना-बाना बुनती है और उसे एक क्षण के लिए जाल में फाँसकर पंख फड़फड़ाते देखकर अपनी सफलता से आत्म-विभोर हो उठती है, लेकिन दूसरे ही क्षण जब देखती है कि पतंगा उड़ गया तो उसे फाँसने के एक-दो और असफल प्रयास करके भूमि पर चू पड़ती है। लगता है अश्क ने सत्या की ट्रेजिडी को ही मूर्तिमान करने के लिए इस उपन्यास की रचना की है। उपन्यास का पहला पृष्ठ सत्या जी की ही चर्चा से आरम्भ होता है और उन्हीं की चर्चा से उसका अन्तिम पृष्ठ समाप्त हो जाता है। जगमोहन को प्राप्त करने की सत्या जी की व्याकुलता और विवशता कुछ ऐसी है, जो पाठक के मन में उनके प्रति तीव्र सहानुभूति जगा देती है। कभी-कभी तो सत्या जी के प्रति किया गया जगमोहन का व्यवहार क्रूर, विश्वासघात और अन्यायपूर्ण-सा लगने लगता है, लेकिन एक बात जिसकी तरफ़ सामान्यतः हमारा ध्यान नहीं जाता, वह यह है कि जगमोहन की भी अपनी व्याकुलता और विवशता है—वह जो कुछ करता है उसी के अन्तर्गत करता है। सत्या जी का शारीरिक सौन्दर्य उसे उतना आकर्षित नहीं करता—कभी वे उसे किंचित् सुन्दर भले लगती हों, लेकिन प्रायः उनका खिंचा-तना रूप ही जगमोहन के सामने आता है। एकाध अवसरों पर तो उनका रूप जगमोहन को ऐसा लगता है कि जिसे सहन तक करना उसके लिए कठिन हो जाता है। जैसे उस समय, जब वह अपनी भाभी को लेकर सत्या जी के यहाँ जाता है और उसके अनुरोध पर वे गाना गाती हैं। जगमोहन ने तब तक उनका सुसंस्कृत रूप ही देखा था। लेकिन जब

उन्होंने अपने भोंडे स्वर में एक बड़े ही सस्ते क़िस्म का भजन गाया तो उसे सत्या जी के प्रति करुणा ही उपजी, प्रेम नहीं। फिर उनकी अतिरिक्त व्यवहार-कुशलता भी जगमोहन को शंकित करती है। उनकी चेष्टा जगमोहन को केवल प्राप्त करने की ही नहीं, उस पर हावी होने की भी लगती है और इसी बात से जगमोहन घबराता है। उनके एहसानों का अहसास जगमोहन को उनके प्रति तनिक भी रूखा व्यवहार करने से बराबर रोकता है और अपनी तरफ़ से कई बार उनके अहसान स्वीकार न करने की वह कोशिश भी करता है, लेकिन उनकी चतुराई के आगे उसकी एक नहीं चलती। सत्या जी के साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने के बावजूद जगमोहन का उनसे विवाह करने से साफ़ इनकार कर जाना, क्रूर तथा विश्वासघातपूर्ण ज़रूर लगता है, लेकिन तटस्थता से विचार करने पर हमें जगमोहन का दोष उतना नहीं दिखायी देता। सत्या जी ने आरम्भ ही से जगमोहन को अपने निकटतम लाने का सचेत प्रयास किया है और जगमोहन ने हमेशा अपनी ओर से बचने की कोशिश की है। अश्क ने सत्या जी के आरम्भिक प्रयासों का उल्लेख बड़े ही सूक्ष्म ढंग से चित्रित किया है, यही कारण है कि कई बार पाठक उन्हें ग्रहण नहीं कर पाता। इस दिशा में वे पहला सचेत प्रयास तब करती हैं, जब पहले-पहल जगमोहन के मियानी वाले कमरे में सोने का बहाना करती हैं। उनके लेटने की भंगिमा जान-बूझकर ऐसी है कि देखकर जगमोहन के मन में विकार उत्पन्न हो। अन्त में जिन स्थितियों में जगमोहन सत्या जी के निकटतम आता है, उनमें किसी नवयुवक का संयम उसके पौरुष और मनुष्यत्व दोनों में सन्देह उत्पन्न कर देता।

विवशता सत्या के साथ भी है और जगमोहन के साथ भी और दोनों की विवशताएँ अपनी-अपनी जगह ठीक हैं। जगमोहन में सत्या जी को अपना उपयुक्ततम जीवन-साथी दिखायी देता है, लेकिन सत्या

जी में जगमोहन को अपनी उपयुक्ततम जीवन-संगिनी शायद नहीं दिखायी देती—उनका बाह्य सौन्दर्य उसे पूरी तरह आकर्षित नहीं कर पाता और उनके प्रयासों में उसे चतुराई की बू आती है और जब वे उस विशेष स्थिति में अपनी जन्म-कथा का रहस्य बताकर जगमोहन को अपना घनिष्टतम सिद्ध करने का प्रयास करती हैं, तो जगमोहन भावी परिणाम की कल्पना ही से भाग उठता है। अश्क ने वहाँ 'ब्लैकमेल' शब्द दिया है। हो सकता है, सत्या जी अपनी प्रबल इच्छा से चालित उस पहलू को नहीं देखतीं, पर जगमोहन उसी पहलू को देखता है और आतंकित हो उठता है। इसके बाद जगमोहन का सारा प्रयास उस आदमी का-सा है, जो अपनी जान बचाने के लिए दूसरे को डूब जाने देता है।

जगमोहन के रूप में अश्क ने एक ऐसे मध्यवर्गीय युवक का चित्र दिया है जो प्रौढ़ भले ही न हो, लेकिन सचेत तथा जागरूक अवश्य है। जीवन के प्रति उसकी दृढ़ आस्था तथा सुलझा हुआ दृष्टिकोण भावुकता के प्रवाह में बह जाने से उसे बार-बार बचा लेता है। जीवन में सफलता-प्राप्ति का उद्देश्य उसे कभी-कभी दूसरों के प्रति निर्मम तक बना देता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रोटी की समस्या उसके लिए सर्वोपरि है, लेकिन किसी तरह भी रोटी मिले, उसे यह स्वीकार नहीं, अपनी इच्छा के अनुसार स्वाभिमान के साथ वह उसे प्राप्त कर सके, यह वह चाहता है। सफलता के लिए भी हर उचित-अनुचित साधन काम में वह नहीं लाना चाहता, इसीलिए प्रोफ़ेसर कपूर की ट्यूशन और सत्या का प्रेम वह बड़ी कठोरता से तज देता है।

प्रेम के सम्बन्ध में वह कोई निश्चित मत कायम नहीं कर पाता। आज की परिस्थितियों ने प्रेम-भावना की तीव्रता को कम कर दिया है, ऐसा वह मानता है। सब कुछ भुलाकर अपने प्रेम-पात्र को पाने के लिए पागल हो उठने की कल्पना भी वह नहीं कर पाता, लेकिन इस

कल्पना से इनकार भी करना उसके लिए सम्भव नहीं है। सत्या से विवाह न कर सकने के बारे में वह बीस बहाने सोचता है, लेकिन कहीं अगर दुरों, जिसे वह मन-ही-मन प्रेम करता है, उससे विवाह करने को कहती तो वह आकाश के तारे भी तोड़ लाने को प्रस्तुत हो जाता।

जगमोहन के व्यवहार और चिन्तन के आधार पर कुछ लोगों का मत है कि 'गर्म राख' प्रेम-सिद्धान्त के विरोध में लिखा गया है। बात ऐसी नहीं है। वास्तव में अश्क ने यह उपन्यास इकतरफ़ा प्रेम और विफल प्रेमी के वैराग्य या आत्मघात के विरोध में लिखा है। इकतरफ़ा प्रेम की समस्या पर अश्क ने पहले भी एक बार कलम चलायी है। मेरा संकेत 'सितारों के खेल' की ओर है, जो उनका पहला उपन्यास है। उसमें बंसीलाल लता के प्रेम में पागल है, लेकिन लता उसे तनिक भी पसन्द नहीं करती। जब वह भावुकता के आवेश में तिमंज़िले पर से छलाँग लगा देता है, तो लता भी भावुक हो उठती है और उसके लुंज-पुंज मांस-पिंड को लिये-लिये डाक्टरों और साधु-सन्तों के पीछे मारी-मारी फिरती है। अन्त में उसकी समझ में यह बात आ जाती है कि भौतिक परिस्थितियों की ओर से अधिक दिन तक आँखें नहीं मूँदी जा सकतीं, लेकिन तब बहुत देर हो चुकी होती है। क्षयरोग से मृत्यु के मुँह में जाने के पूर्व वह डा० अमृतराय को जो संदेश दे जाती है, वही एक तरह से जगमोहन के चरित्र की कुंजी है। जगमोहन अपने जीवन में लता के उस अन्तिम संदेश को बड़ी मज़बूती से पकड़े रखता है और अपने-आपको कभी भी भावुकता के वश में नहीं होने देता। सत्या जी भावुक नहीं हैं, लेकिन उनकी आकांक्षा-शक्ति इतनी तीव्र है कि अपने इकतरफ़ा प्रेम की विफलता को सह नहीं पातीं और निराशा की प्रतिक्रिया के रूप में वे, यद्यपि चाहते हुए भी आत्मघात तो नहीं कर पातीं, लेकिन कुरूप, अधेड़ और असंस्कृत अफ़्रीकी मेजर से विवाह करके आत्मघात-सा ही कर लेती हैं। जैसे किसी मृत्यु-दण्ड पाने वाले

की सज़ा थोड़ी हल्की करके उसे काले-पानी का दण्ड दे दिया जाय, कुछ वैसा ही सत्या जी के साथ भी घटित हुआ है। राजा भर्तृहरि की तरह सम्भवतः सत्या जी भी अपनी स्थिति 'यां-चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता...' जैसी पाती हैं, इसीलिए वे अनचाहे संग तथा देश-निकाले का स्वेच्छा से वरण कर लेती हैं। जो समस्या सत्या जी के सामने है, वही जगमोहन के सामने भी है, लेकिन वह आत्म-विनाश का मार्ग न अपनाकर आत्म-विकास का मार्ग अपनाता है। वह दुरो को चाहता है, लेकिन जब उसे पता चल जाता है कि दुरो उसके साथ सहानुभूति चाहे रखे, लेकिन प्रेम वह हरीश ही से करती है, तो वह अपने-आपको उस ओर से हटा लेता है। उसे न दुरो से शिकायत है और न हरीश के प्रति ईर्ष्या। उसका स्वभाव ही ऐसा हो, यह बात नहीं। इसके लिए उसे स्वयं अपने साथ प्रबल संघर्ष करना पड़ा है, जिसके संकेत उपन्यास में बार-बार दिये गये हैं। जगमोहन को प्रेम की वांछनीयता से इनकार नहीं, लेकिन उसकी अपरिहार्यता को वह नहीं मानता। **'और भी ग़म हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा'** तथा **'राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा'** का स्वस्थ दृष्टिकोण उसके सामने है, इसीलिए प्रेम में विफल होने के बावजूद जीवन उसे स्पृहणीय लगता है।

कवि चातक तथा उनकी मण्डली का कथाचक्र जिस तरह जगमोहन और सत्या वाले कथाचक्र की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है, उसी तरह हरीश तथा दुरो का कथाचक्र उसकी पार्श्व-भूमि तैयार करता है। कवि चातक और हरीश दोनों वास्तव में एक-दूसरे से नितान्त विपरीत सिद्धांतों में विश्वास रखते हैं। कवि चातक प्रेम की ही समस्या को सर्वोपरि मानकर रोटी की समस्या की तरफ़ से आँख मूँद लेते हैं तो हरीश के सामने रोटी की समस्या ही सर्वोपरि है—अपनी कम, दूसरों

की अधिक ! दुरो उन्हें प्रेम करती है और वे भी उसे चाहते हैं, लेकिन उन्हें प्रेम के लिए तनिक भी अवकाश नहीं। मज़दूरों की भलाई और उसके माध्यम से अपने दल की लोकप्रियता और परिणामस्वरूप अपनी ख्याति का ध्यान ही उन्हें हमेशा परेशान किये रहता है। किसी भी छोटे मज़दूर-नेता में जितनी तरह के गुण-दोष होते हैं, वे सब हरीश में हैं। अपनी सिद्धांतवादिता तथा सरगर्मियों के कारण हरीश इस उपन्यास में काफ़ी प्रमुखता प्राप्त कर गये हैं, लेकिन हरीश के रूप में किसी आदर्श पात्र की रचना अश्क ने की हो, ऐसी बात नहीं। सफलता प्राप्त करने के लिए जब वे नूरे-जैसे शराबी और आवारा कर्मचारी की मदद लेते हैं और विफल होने पर कलुआ को भेदिया का काम करने के लिए कम्पनी की नौकरी में बने रहने की सलाह देते हैं तो उनके चरित्र की कमज़ोरी छिपी नहीं रहती। फिर मीटिंगों और सभाओं में उनके भाषण तथा वक्तव्य, उनके अहं तथा कठमुल्लेपन को प्रकट कर देते हैं।

दुरो के रूप में वय-संधि की सीमा को पार करती हुई एक भावुक लड़की का बड़ा ही सुन्दर चित्र 'गर्म राख' में अंकित है। सत्या जी यदि धीरा नायिका हैं तो दुरो मुग्धा नायिका है, इसमें सन्देह नहीं। 'ओढ़ि पितम्बर लै लकुटी' के अनुसार हरीश की खातिर वह सब कुछ करने को तैयार दिखती है और कई बार तो वह हरीश की प्रतिच्छाया-सी लगने लगती है—वैसे ही विचार, वैसा ही दृष्टिकोण और यहाँ तक कि बात करने का लहजा तक वह हरीश-जैसा अपना लेती है। भावुकता की दृष्टि से दुरो-जैसी लड़कियों की कमी निम्न-मध्यवर्गीय समाज में नहीं, लेकिन उसमें एक ऐसी विशेषता भी है, जो सामान्यतः भावुक लड़कियों में नहीं पायी जाती। वह है आत्मविश्वास और छिछोरेपन के प्रति बेझिझक आक्रोश, जो उसके चरित्र के लिए रक्षा-कवच है— इसीलिए शुक्ला जी और कवि चातक उसकी ओर देख तक नहीं पाते।

जगमोहन जब भावुकता के एक विशेष क्षण में उसके प्रति अपनी भावनाएँ संकेत रूप में व्यक्त करता है तो वह उसके प्रति सहानुभूति अवश्य प्रकट करती है, लेकिन उसे अपने निकट आने का अवसर नहीं देती। अपनी स्थिति वह इतने सहज भाव से स्पष्ट कर देती है कि जगमोहन को उससे तनिक भी शिकायत नहीं रह जाती। और अन्त में तो परिस्थितियों का चक्र कुछ इस तरह घूमता है कि वे दोनों अपने-आप को एक-जैसी विडम्बना का शिकार पाते हैं और पारस्परिक सहानुभूति के दृढ़ बंधन में बँध जाते हैं। जिस तरह दुरो जगमोहन के लिए निकट होकर भी दूर है, लगभग उसी तरह दुरो के लिए हरीश नज़दीक होकर भी दूर है।

एक चौथा कथाचक्र भी है कवि वसन्त का, जो विस्तार में छोटा होते हुए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसकी उपयोगिता भी पार्श्वभूमि के रूप में ही है और एक तरह से यह जगमोहन तथा सत्या और हरीश तथा दुरो वाले प्रेम-प्रसंगों के विरोधाभास को स्पष्ट करने का काम देता है। वसन्त और जगमोहन दोनों की समस्याएँ कुछ अंशों में लगभग एक-सी हैं। जगमोहन सत्या का आश्रित होकर साहित्य-सृजन तथा पढ़ाई की सुविधा स्वीकार करना अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए घातक समझता है और वसन्त अपनी मँगेतर से असन्तुष्ट होकर नहीं, बल्कि अपने ससुर के इस प्रस्ताव से असन्तुष्ट होकर लाहौर की खाक छानने चला आता है कि अगर वह यह वादा करे कि उन्हीं की बेटी से शादी करेगा तो वे उसकी पढ़ाई का पूरा खर्च वहन कर लेंगे। जगमोहन में यदि वसन्त-जैसी किंचित् समर्पणशीलता होती और सत्या जी सरला-जैसा विवेकपूर्ण रुख अपनातीं तो शायद वह सब न होता जो उन दोनों के बीच हुआ। लेकिन वसन्त की समस्या और जगमोहन की समस्या में एक मूलभूत अन्तर है। वसन्त को अपनी मँगेतर पसन्द

है, उसका विवाह से इनकार करना केवल स्वाभिमान की रक्षा के लिए है और जगमोहन को सत्या जी ही पसन्द नहीं हैं, और यही बात प्रमुख है, शेष बातें तो इस प्रमुख बात के सामने अपने-आप गौण हो जाती हैं।

सत्या जी की विडम्बना और जगमोहन के जीवन-संघर्ष को उभारने और पृष्ठभूमि प्रदान करने के लिए अश्क ने 'गर्म राख' में छोटे-बड़े दर्जनों पात्रों तथा विविध प्रकार की परिस्थितियों की अवतारणा की है और इस खूबी से की है कि वे भरती की न लग कर, सम्पूर्ण का एक अवयव बन जाती हैं। पात्रों तथा परिस्थितियों, दोनों के चित्रण में अश्क ने दो बातों का विशेष ध्यान रखा है। एक तो यह है कि वे सहज तथा स्वाभाविक लगें, दूसरे यह कि सार्थक होने के साथ-साथ रोचक भी हों। यह अवश्य है कि घटना-प्रसंगों के सहज चित्रण के मोह में कहीं-कहीं गौण प्रसंगों को आवश्यकता से अधिक विस्तार दे दिया गया है, जैसे सरदार गुलबहार सिंह आदि की लाटरीबाज़ी वाले प्रसंग को ! लेकिन इस प्रसंग के ब्योरे इतने रोचक हैं कि पाठक को उन्हें पढ़कर खीझ नहीं होती, भले ही वह इस उपन्यास में उस प्रसंग के विस्तार का औचित्य हृदयंगम न कर सके। जिस तरह किसी बड़े चित्र की भव्यता को बढ़ाने के लिए अनेक छोटे-छोटे चित्र उसके इधर-उधर सजा दिये जाते हैं, उसी तरह 'गर्म राख' में भी सत्या जी के इकतरफ़ा प्रेम और जगमोहन के जीवन-संघर्ष को तीव्रता तथा सजीवता प्रदान करने के लिए कवि चातक और उनकी मण्डली; हरीश जी तथा उनका पूरा दल; कवि वसन्त; उसकी मँगेतर; दुरो, दुरो के मौसा जी आदि; प्रोफ़ेसर स्वरूप; प्रोफ़ेसर कपूर; पं० दाताराम; पं० रघुनाथ तथा अन्य कितने ही चरित्र हैं, लेकिन चूँकि ये सहायक पात्र जीवन की पूरी गहमागहमी के साथ आये हैं, इसलिए

'गर्म राख' को पढ़कर पाठक केवल सत्या जी तथा जगमोहन के जीवन की विडम्बना ही से परिचित नहीं होता, बल्कि पूरे निम्न-मध्यवर्ग की विडम्बना उसके सामने मूर्तिमान हो उठती है।

'गर्म राख' में दिये गये वर्णन-चित्रण के ब्योरों को यदि गहराई से न देखा जाय, तो लगता है जैसे लेखक ने इन ब्योरों को उसी तरह ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत कर दिया है, जैसे कैमरा पृष्ठभूमि की चीज़ें मूल-चित्र के साथ अंकित कर देता है। लेकिन बात ऐसी नहीं है। ये छोटे-छोटे ब्योरे मुख्य चित्र को पृष्ठभूमि ही प्रदान नहीं करते, बल्कि छोटे-छोटे स्वतन्त्र खण्ड-चित्रों का निर्माण भी करते हैं! ये छोटे होते हुए भी संघर्ष की तीव्रता तथा सत्य के उद्घाटन में बराबर का भाग लेते हैं (यह बात अजाने ही नहीं हुई कि अश्क ने 'गर्म राख' के संक्षिप्त संस्करण का नाम 'संघर्ष का सत्य' रखा है।) फिर इन ब्योरों और विवरणों का उपयोग लाक्षणिक रूप में भी किया गया है। उदाहरण के लिए श्री धर्मदेव वेदालंकार जब खूबसूरत रंगीन प्लेटें एक बार इस्तेमाल करने के बाद फेंक देने की बात कहते हैं तो 'संस्कृति समाज' का हर सदस्य मन-ही-मन यह कहने से अपने को नहीं रोक पाता कि 'फेंकते क्यों हैं, हमें ही दे दें'। वैसे यह वर्णन श्री धर्मदेव के दिखावे और सदस्यों की निम्न-मध्यवर्गीय क्षुद्र लालसा का सूचक तो है ही, पूरे मध्यवर्गीय जीवन में गहरी पैठी हुई बाहरी दिखावे की भावना और अन्तर की क्षुद्र लालसा का प्रतीक भी है। सच पूछिए तो 'गर्म राख' के ये छोटे-छोटे वर्णन और ब्योरे ही इस उपन्यास को इतना महत्वपूर्ण बना देते हैं। इन्हीं ब्योरों के कारण इसका हर पात्र, हर घटना सजीव, सार्थक और यथार्थ बन गयी है। और कुछ स्थल तो इतने रोचक हैं कि उन्हें बार-बार पढ़कर रस लिया जा सकता है—उदाहरण के लिए सरदार गुलबहार सिंह आदि का लाटरी वाला प्रसंग और कवि चातक का रणभेरी-काण्ड तथा उसके बाद कचहरी

के बयान वाला किस्सा। यह चित्रण-वर्णन जितने सहज और स्वाभाविक हैं, उनकी पच्चीकारी उतनी ही सूक्ष्म है। पात्रों की एक-एक भंगिमा, कथोपकथनों के एक-एक शब्द, एक-एक मुहावरा और एक-एक वाक्य सटीक, सार्थक और व्यंजक हैं। वर्णनों में सहजता तथा स्वाभाविकता के अतिरिक्त चित्रात्मकता तथा सांकेतिकता लाने के लिए रूपकों और उपमाओं का खूब प्रयोग किया गया है। अपनी वर्णनकुशलता के ही बल पर अश्क ने छोटे-छोटे पात्रों को भी एक ऐसी आभा प्रदान कर दी है, जो पाठक के मन पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाती है। 'गर्म राख' के प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त बात-बात में 'मक्कू-ठप्प' देने वाला नूरा, दरियायी घोड़ों की-सी मूँछों वाले दुरो के मौसा जी, कलुआ, बाबू रामसहाई, रोशनलाल और कितने ही अन्य छोटे पात्र ऐसे हैं, जिन्हें हम भूल नहीं पाते।

स्थानीय रंगत लाने के लिए अश्क ने पंजाबी शब्दावली तथा लोकगीतों का अत्यन्त सफल प्रयोग किया है। लेकिन स्थानीयता का पुट देने के मोह में उपन्यास को आंचलिक (?) बना देना, अर्थात् केवल अंचल-विशेष के पाठकों के लिए ही बोधगम्य बनाना अश्क को स्वीकार नहीं। इसीलिए उन्होंने पंजाबी शब्दों का प्रयोग बड़े संयम से और इस तरह किया है कि साधारण हिन्दी-पाठक भी उन्हें आसानी से समझ जायँ।

जिन लोगों को अश्क से शिकायत है कि वे केवल समस्या उपस्थित करते हैं, समाधान नहीं देते, यदि वे 'गर्म राख' को गम्भीरता से पढ़ें तो उन्हें इस बात की शिकायत न रह जायगी। इसमें निम्न-मध्यवर्ग की जो समस्याएँ चित्रित हैं, अन्त में उनके समाधान का संकेत भी है। निम्न-मध्यवर्ग की रोटी की समस्या तभी सुलझ सकती है, जब वह निम्नवर्ग को साथ लेकर उच्चवर्ग के अनुचित स्वार्थों से संघर्ष करे और

सेक्स की समस्या को सुलझाने के लिए किंचित् संयमित और समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाये और असफलता की स्थिति में कुंठा के उदात्तीकरण (Sublimation) का उद्योग करे।

इसमें सन्देह नहीं कि 'गर्म राख' हिन्दी के सामान्य उपन्यासों से पर्याप्त भिन्न प्रकार का है। इसमें कथानक के माध्यम से किसी नायक विशेष का जीवन-चित्र न देकर विवरणात्मक खण्ड-चित्रों के माध्यम से से बुद्धिजीवी निम्न-मध्यवर्ग का एक ऐसा एलब्रम प्रस्तुत किया गया है, जिसके चित्र सामूहिक के अतिरिक्त अपना व्यक्तिगत अस्तित्व भी रखते हैं और हर चित्र को अश्क ने इतनी तन्मयता से उरेहा है कि उसका सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विवरण पाठक के सामने स्पष्ट हो उठा है। इसके अतिरिक्त प्रकाश और छाया के उपयुक्त प्रयोग ने इन चित्रों को एक ऐसी सांकेतिकता प्रदान कर दी है, जिससे जितने वे दिखायी देते हैं, उससे कहीं अधिक का आभास देते हैं। अतः इस उपन्यास का पूरा रस लेने के लिए यह आवश्यक है कि इसे खूब इत्मीनान से पढ़ा जाय और हर पात्र तथा प्रसंग के चित्रण की बारीकियों को समझने की कोशिश की जाय, क्योंकि लेखक ने अपने चित्रण-वर्णन को यथार्थ बनाने की तो पूरी कोशिश की ही है, साथ ही सांकेतिकता, अलंकारिकता तथा व्यंग्य के प्रयोग से उसे अधिक व्यंजक बनाने का प्रयास भी किया है। यही कारण है कि पूरा उपन्यास पढ़कर पाठक को जितना रस मिलता है, कभी-कभी वह उतना या उससे भी अधिक आनन्द किसी प्रसंग-विशेष की सूक्ष्मताओं को हृदयंगम करके प्राप्त कर लेता है। इस अतिरिक्त-रस के लिए आवश्यक है कि पाठक पूरा उपन्यास पढ़ लेने के बाद उस प्रसंग-विशेष को, जो उसे 'गर्म राख' में अच्छा लगा हो, उपन्यास के संदर्भ से किंचित् अलग हटाकर पढ़े।

बड़ी-बड़ी आँखें

आदर्श-परक यथार्थवादी उपन्यास

छविनाथ पाण्डेय

●

यथार्थवादी गीति-उपन्यास

डा० देवराज उपाध्याय

●

बड़ी-बड़ी आँखें : व्यक्ति मर्यादा का समर्थन

लक्ष्मीकान्त वर्मा

●

आदर्श और यथार्थ के संघर्ष का चित्रण

सतीशचन्द्र श्रीवास्तव

आदर्श-परक यथार्थवादी उपन्यास

●

छविनाथ पाण्डेय

इधर कुछ दिनों से हिन्दी में जिस तरह के सेक्स-प्रधान उपन्यास प्रकाशित हो रहे थे, उन्हें पढ़कर मन एक तरह से खिन्न-सा हो रहा था। अश्क जी के इस उपन्यास से मन उसी तरह खिल उठा, जिस तरह 'वाणी' की एक चितवन से इस उपन्यास के नायक संगीत जी का मन उत्साह से भर जाता था।

इस उपन्यास को हम सब तरह से सफल उपन्यास कह सकते हैं। कथानक, चरित्र-चित्रण-निर्वाह, भाषा— सभी के लिए लेखक सजग प्रतीत होता है। इस तरह सभी बातों का निर्वाह कम ही उपन्यासों में देखने में आता है— खास कर जहाँ कथानक इतना गम्भीर हो, भावों का घात-प्रतिघात इतनी तेज़ी से चलता हो और लेखक को ऐसे विपरीत चरित्रों का चित्रण करना पड़ा हो।

संगीत वर्तमान युग का ऐसा आदर्शवादी युवक है, जो आदर्श पर चलने के लिए छटपटा रहा है और सभी तरह की बाधाएँ चट्टानों

की तरह उस पर टूटती रहती हैं, लेकिन वह अविचल अपने मार्ग पर चलता रहता है।

और, जहाँ वह विचलित होने-होने को होता है, वहाँ उसे सहारा देने के लिए आ पहुँचती हैं वाणी की वे दो बड़ी-बड़ी आँखें। उतनी ही कम उम्र में वाणी ने जिस महान आदर्श का प्रतिनिधित्व किया है, वह भारतीय नारी के सर्वथा अनुकूल है।

वह संगीत से प्रेम करती है, लेकिन उसका प्रेम समुद्र के तट से टकराने वाली लहरें नहीं, बल्कि समुद्र की अगाध जलराशि है, जो समस्त नदियों का जल समेटकर भी अपनी मर्यादा पर अटल रहती है— कहीं भटकती नहीं, कहीं फिसलती नहीं और एक क्षण के लिए भी विचलित नहीं होती। वाणी का प्रेम अश्क जी के ही शब्दों में 'भावना के सहारे जीवन के सागर में तैरने और कभी ग़ोते न खाने वाला अभिन्न, अडिग, अडोल प्रेम' है।

भारतीय नारी के उच्च आदर्श का निर्वाह वाणी ने उस उम्र में ही जिस तरह किया है, उसे पढ़कर लेखक की उच्चतम वृत्तियों के प्रति हृदय श्रद्धालु हो उठता है।

नारी और पुरुष में क्या अंतर है, यह संगीत और वाणी के चरित्र से स्पष्ट झलक जाता है। क्षोभ के आवेश में जहाँ संगीत भटक जाता है और वाणी के उस गोपनीय पत्र को प्रकट कर देता है और उसे जला भी देता है, वहाँ संगीत के ही शब्दों में—'पर नहीं, वह नफ़रत न करती थी। उसके मन में मेरे लिए स्नेह था, इसलिए वह जता देती थी कि मेरी बात से उसे दुख पहुँचा है। दोनों की तुलना करने पर नारी के समक्ष पुरुष कितना हल्का साबित होता है!

अगर देवनगर को भारत-संघ मान लें और देवाजी तथा ज्ञानी जी को संघ का प्रधान मंत्री और राष्ट्रपति मान लें और एक-एक संघ-सैनिक को एक-एक राज्य मान लें और संगीत और वाणी को उन छटपटाते,

सच्ची लगनवाले कांग्रेस-कर्मी मान लें, जिन्होंने गांधी जी के आदर्श पर चलने के लिए अपना सब कुछ कुर्बान कर दिया और तब इस उपन्यास को पढ़ें तो प्रकट होगा कि देश के वर्तमान शासन का कितना सही और सटीक चित्र 'बड़ी-बड़ी आँखें' में अश्क जी ने खींचा है।

अन्त में भाषा के सम्बन्ध में दो शब्द लिख देना चाहता हूँ। अश्क जी ने पृष्ठ ६३ पर लिखा है—'आज इतने वर्षों के बाद भी मैं मानता हूँ कि देवाजी की लेखनी में अपूर्व आकर्षण था, उनके शब्दों के सही चुनाव और नाज़ुक भावों को व्यक्त करने की, अपने पाठकों को अपने आदर्श-प्रेम के ऊँचे वायवी वातावरण में उठा ले जाने की, अपूर्व प्रतिभा थी...उनकी भाषा में अपूर्व मिठास आ गयी थी।' देवाजी की काल्पनिक भाषा में जिस गुण की प्रतिष्ठा लेखक ने की है, वे गुण सर्वतोभावेन मैं अश्क जी की भाषा में पाता हूँ। अश्क जी की अन्य रचनाएँ भी मैंने पढ़ी हैं। उन रचनाओं की भाषा से इस पुस्तक की भाषा कहीं उठी हुई है। विषय तो ऊँचा है ही। मालूम ऐसा होता है कि ऐसे ऊँचे विषय के प्रतिपादन के लिए अश्क जी की लेखनी से उसी तरह की भाषा भी निसृत होने लगी। पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि हम जैसे गद्य-काव्य की पुस्तक पढ़ रहे हों।

यथार्थवादी गीति-उपन्यास

●

डा० देवराज उपाध्याय

कथा-साहित्य को समृद्ध करने तथा उसे भरा-पुरा बनाने के लिए कितनी तरह की प्रतिभा की आवश्यकता होती है? किसी की प्रतिभा चील की तरह होती है जो आकाश में मँडराती है, शिकार दिखायी पड़ा नहीं कि वह टूट पड़ी और ले उड़ी। दूसरी ओर ऐसी भी प्रतिभा होती है, जो शिकार करने के लिए बाक़ायदा घेरा डालती है, मचान बाँधती है, शिकार को जगाने वाले हलकारों को तैनात करती है और शिकार की टोह में तीन-चार दिनों तक प्रतीक्षा करती है। और भी अनेक तरह की प्रतिभाएँ होती हैं और वे अपनी Strategy यथा समय तथा यथावस्तु निश्चित करती हैं। मेरे एक शिकारी मित्र ने कहा था कि उन्होंने अँधेरी रात में बड़े सशक्त टार्चलाइट के कृत्रिम प्रकाश में हिरन का शिकार किया है। लाइट को देखने भर के लिए हिरन मुड़कर खड़ा होता है, तब तक गोली दाग दी जाती है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' में प्रथम प्रकार की प्रतिभा क्रियाशील दिखायी पड़ती है।

लेखक की प्रतिभा ने जिस वस्तु को शिकार बनाया है, वह गुरु-गम्भीर कानन की गहराई में छिपी नहीं, किसी गिरि-कन्दरा के निविड़तम प्रदेश में स्थित नहीं है, वह आज के जीवन की सतह पर तैरती रहने वाली है, जिसे देखने के लिए किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। दूसरे शब्दों में अश्क जी का यह उपन्यास आज की प्रचलित समस्याओं, आज के राजनीतिक और सामाजिक जीवन की रोज़मर्रा की घटित होने वाली घटनाओं की नींव पर ही निर्मित हुआ है। देवा जी ऐसे नेताओं की आज कमी नहीं, देवनगर-जैसे आदर्श नगर तथा उसकी काग़ज़ी स्कीमों वाली योजना का भी अभाव नहीं। इन सबों की ओट में से मानव के अहं का किस तरह विस्फोट होता है, वह अहं किसी नैतिक सिद्धान्त के आवरण में आता है, अतः 'मणिनाभूषितः सर्प' की तरह कितना भयंकर और घातक हो जाता है, यह बात उपन्यास के किसी भी पाठक से छिपी नहीं रहेगी। वाणी की तरह भावुक, समझदार और सरल-हृदय बालिका को खोजने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं और माता जी तो घर-घर मौजूद हैं।

पर इन सब बातों का वर्णन तो महज़ एक पत्रकार भी कर सकता था, अखबारों के कालमों में नित्य ही ऐसी घटनाओं का वर्णन भरा रहता है। सच पूछिए तो आज के उपन्यासों की सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि उनके लेखक आँख मूँद कर समाचार पत्रों में पाये जाने वाले या इतिहास के पन्नों में पढ़े हुए पात्रों को उठाकर उन पर प्लाट की पपड़ी लगा, उपन्यास के नाम से उपस्थित कर देते हैं। यह क्रिया अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण भी हो सकती है। इनके वर्णन-कौशल के भी हम क़ायल हो सकते हैं, इनकी उपयोगिता भी हम स्वीकार कर सकते हैं। लोग होते हैं कि जिनके गले के नीचे कोई भी गोली तब तक नहीं उतरती, जब तक उस पर शकर की कोटिंग न हो। परन्तु वह कोटिंग गोली के प्रभाव तथा गुणों में कुछ भी सहायता नहीं देती, वह अलग से पड़ी

हुई चीज़ होती है। उसी तरह जब तक ऐसे लोग मौजूद हैं, जो दर्शन या इतिहास की गोली बिना मीठी लेप के निगलना नहीं चाहते, तब तक ऐसी रचनाओं की आवश्यकता रहेगी। ध्यान यही रखना है, चूँकि वह मीठी लगती है, अतः वह कुनैन की गोली न होकर बालूशाही की टिकिया है, ऐसा मान लेने की हम भूल न कर बैठें। हम 'बड़ी-बड़ी आँखें' को उपन्यास-कला की कसौटी पर कस रहे हैं तो हमें अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर लेना होगा। आजकल हम साहित्य से कुछ अधिक माँग करने लगे हैं और फिलिप सिडनी या मम्मट के युग को पार कर गये हैं, जब कि कला का ध्येय to teach delightfully था या 'शान्तासम्मितयोपदेश पुंजे' था।

आज हम उपन्यास से दो चीज़ों की माँग करते हैं, जिसको अंग्रेज़ी में कहेंगे Recognition और insight अर्थात् अनन्यबोध तथा अन्त-र्दृष्टि। अनन्यबोध का अर्थ यह है कि उपन्यास में घटनाएँ या पात्र जो भी आये हैं, वे इस ढंग से रखे गये हैं कि उनमें मानव-जीवन के सजातीयत्व या समानधर्मित्व का बोध जाग्रत करने की शक्ति हो, अर्थात् उन पर नज़र पड़ते ही हम उन्हें स्वजातीय के रूप में पहचान लें। पर इतना ही करके न रह जायँ, साथ ही अपने अन्दर अन्तर्दृष्टि जगती पायें, जिसकी किरणें मानव-जीवन की ट्रेजिडी या कामिडी, उसके उत्थान और पतन के स्वरूप को हमारे सामने स्पष्ट कर सकें। हमारे ज्ञान में भले ही वृद्धि न हो, पर हम में जीवन तथा उसकी घटनाओं पर मापक दृष्टि से देखने की क्षमता अवश्य पैदा हो। अश्क जी हिन्दी के उन इने-गिने लेखकों में हैं, जिनकी प्रतिभा में अनन्य बोध और अन्तर्दृष्टि दोनों को युगपत उत्पन्न करने की शक्ति है और जिस अंश में वे इस जादू को जगा सके हैं, उसी अंश में उन्हें अपनी कला में भी सफलता मिली है।

उपन्यास का काम न तो समाज का चित्रण करना है और न

दर्शन का पाठ पढ़ाना, पर ये दोनों कार्य इसके द्वारा सम्पन्न होते ही हैं, इसको कभी भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर वह जो कुछ भी करता है अद्वितीय ढंग से करता है, जो कुछ कहता है, इस लहजे में कहता है कि वे ही बातें विराट बन जाती हैं और हम उन्हीं बातों को जीवन की गहराई, ऊँचाई या व्यापकत्व के टर्म्स में देखने के लिए बाध्य हो जाते हैं। जहाँ तक आपके मन की शान्ति का सम्बन्ध है, उसका स्रोत न गांधी-आश्रम में है और न देवनगर में। वह तो आपके अन्तर ही में है। वहीं आपको उसे खोजना होगा...... जीवन के ये परिवर्तन अशान्ति के कारणों को हटाते नहीं, उन्हें आगे-पीछे कर देते हैं। अशान्ति का कारण है अनुभवहीनता, अनिश्चय और अहं का आधिक्य। यह उपदेश मनुष्य ने न जाने कितनी पुस्तकों में पढ़ा होगा और पढ़कर आगे बढ़ गया होगा। दर्शन के ग्रन्थ ने उसे अन्तर्दृष्टि भी दी होगी, पर वह कभी भी ऐसा नहीं कर सका होगा कि यह मालूम पड़े कि अरे यह तो मेरे हृत्प्रदेश में खिला हुआ पुष्प है, इसकी सुगन्धि मेरी ही मिट्टी की सोंधी वास है, जिसे उपन्यासकार की ठंडी फुहार ने अन्दर से उभार दिया है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' में आयी हुई ये पंक्तियाँ यद्यपि अपने में तो थोथी ज्ञान-मात्र हैं, शुष्क लकड़ी की तरह, पर जादू के मुल्क में आकर जादू की छड़ी बन गयी हैं।

यहाँ पर कीट्स की एक अति प्रसिद्ध, प्रायः उद्धृत, सर्वजिह्वाग्र-वर्तिनी कविता की एक पंक्ति याद आती है—Ode to the grecian urn नामक कविता की एक पंक्ति है, 'Beauty is truth, truth beauty' इस पंक्ति को अपने सन्दर्भ से पृथक कर देखिए। यह न तो महत्वपूर्ण ही है और न कवित्वपूर्ण ही। इतना ही नहीं, अपने में तो यह बे-सिर-पैर की मालूम पड़ती है, जिसके लिए अंग्रेज़ी में एक ही शब्द है Silly। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि यह एक

नीति-परक वाक्य है। पर कविता में प्रयुक्त होकर यह दो विपरीतताओं में समन्वय स्थापित करती हुई, अभेद के सूत्र को हिलाती हुई, एक ऐसा दिव्य मंत्र बन गयी है कि आज हम राम-नाम की तरह इसका जप करते नहीं थकते। मैं पूछता हूँ कि कीट्स की प्रतिभा ने अपने विशिष्ट ढंग से इसकी योजना न की होती तो यह जादू कभी सम्भव न होता। 'बड़ी-बड़ी आँखें' में क्या, अश्क जी के अन्य उपन्यासों में भी, योजना के इस कवित्वपूर्ण कौशल की झलक मिलती है।

अश्क जी के पूर्व के उपन्यास, 'गिरती दीवारें' या 'गर्म राख' भले ही देखने में भारी-भरकम हों, डील-डौल में लम्बे-चौड़े हों, अन्तिम विश्लेषण में अश्क Lyrical Novelist ही कहे जायँगे। उनकी वह प्रेरणा, जो उपन्यास के रूप में परिणत हो गयी है, ऐसी है, मानो एक ही jet में प्राप्त हुई हो, और तेज़ी से चलकर समाप्त हो जाना चाह रही हो। उपन्यास-कला की नब्ज़ का ज्ञान फ़्लाबेयर से अधिक शायद ही किसी को होगा, वह एक जगह कहता है :

'एक महत्वपूर्ण उपन्यास का विषय आने पर होता है तो बस एकबारगी ही, एक प्रक्षेप में आ जाता है, टुकड़े-टुकड़े कर नहीं। मानो वही मूल स्रोत हो, जहाँ से शेष बातें निकली हों, यहाँ पर इसको या उसको चुनने की स्वतन्त्रता नहीं रहती। विषय-निर्वाचन का वहाँ प्रश्न ही नहीं है।' इस बात को ठीक से न जनता समझती है और न आलोचक। विषय के साथ लेखक की मनोवृत्ति जब रम जाती है (रति कुर्वते) तब उच्चकोटि के साहित्य की रचना होती है।

मैं औरों की बात नहीं कह सकता पर मेरे जानते अश्क के अन्य उपन्यासों में उनकी भाषा जो इतनी lyrical हो उठी है, वेदना-मयी हो उठी है, ट्रेजिक हो उठी है, वही मुझे उपन्यास के प्राण के रूप में मालूम पड़ती है। इस लिरिक-तत्व का अनावश्यक विस्तार से, इधर-उधर से लेकर मिलायी हुई वस्तुओं से विरोध है और वह उन्हें

अपने अन्दर खपा नहीं सकता। कारण जो भी हो, पर अश्क के अन्य उपन्यासों में अनेक अंश हैं जो भरती के मालूम पड़ते हैं, यही कारण है कि उनके लघु संस्करण निकल सकते हैं। 'गिरती दीवारें' को चेतन का रूप दिया जा सकता है और 'गर्म राख' को 'संघर्ष का सत्य' का बिना किसी क़ीमत पर, लेकिन 'बड़ी-बड़ी आँखें' को, बिना पर्याप्त मूल्य चुकाये संक्षिप्त नहीं किया जा सकता।

अश्क जी के उपन्यासों में लिरिक-स्वरूप, जिसकी बात मैंने कही है और जो 'बड़ी आँखें' में आकर स्पष्ट हो गयी है, उसके स्पष्टीकरण के लिए एक रूपक का सहारा लीजिए। कल्पना कीजिए दो व्यक्तियों की। एक के हाथ में हथौड़ी और छेनी तथा कील है, दूसरे के पास धनुष और बाण हैं। दोनों एक दीवाल में छेद करना चाहते हैं। पहले व्यक्ति की हथौड़ी की चोटों के साथ कील धीरे-धीरे प्रवेश करेगी और छिद्र बनायेगी, दूसरा एक ही बार अपनी पूरी शक्ति के साथ बाण छोड़ेगा, अपने कार्य की सिद्धि के लिए दुबारा चोट करने का अवसर नहीं है, एक बार जो सध गया, सध गया। अलंकार-शास्त्रियों से कुछ शब्द उधार लें तो 'शब्द-बुद्धि कर्मणाविरम्य आपाराभावः' वाली परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। पहला कथाकार है, दूसरा lyric Poet है, गीति कवि है। सच पूछिए तो कला का वास्तविक स्वरूप गीति-काव्य में ही मिलता है। वही एक क्षेत्र है, जहाँ का प्रत्येक स्पन्दन, प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य अपने एकाद्वकत्व के साथ, समवेत रूप में, एकलक्ष्योन्मुख रहता है, जिसमें पार्ट्स (Parts) हैं ही नहीं, सब मिलकर एक whole है। उपन्यासकार कहिए या साहित्य-निर्माता, इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सचेष्ट रहता है। परन्तु उपन्यासकार की समस्या गीति कवि से कठिन भी है और सहज भी। कठिन इसलिए कि अपनी अलग सत्ता बनाये रखने के लिए उसे

विस्तृत पैमाने पर काम करना पड़ता है, अनेक परस्पर-विरोधी तत्वों को संगठित कर रखना पड़ता है, अपनी कल्पना की प्रेरणा को अधिक देर तक पकड़े रहना पड़ता है, उसे गहराई की अपेक्षा विस्तार का अधिक ध्यान रखना पड़ता है। इस कठिनाई को हल करना सहज नहीं परन्तु उपन्यासकार को एक सुविधा भी है, उसका रूपविधान अधिक लचीला, प्रसरणशील है। उसमें स्थिति के अनुसार तुड़-मुड़ जाने की अपूर्व शक्ति है, अतः उपन्यासकार की क्षमता इसी में है कि इन अलिरिकल तत्वों को अपने क्षेत्र में, लिरिकल संगठन और कलात्मकता दे सके।

अश्क ने शायद अपने उपन्यासों में इसी आदर्श की प्राप्ति की चेष्टा की है, पर उन्हें पूरी सफलता नहीं मिल सकी। मैंने 'गिरती दीवारें' की आलोचना में इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया था कि वहाँ बहुत से ऐसे अंश हैं, जिन्हें अनावश्यक रूप से खींचा गया है। 'गर्म राख' में भी यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, पर 'बड़ी-बड़ी आँखें' में कलाकार की प्रतिभा ने अपनी सीमा को समझा है कि जितना बोझ वह अपने उपन्यासों पर लादना चाहता है, उतना उनकी शक्ति के बाहर है। अतः वह उस प्रदेश को लौट आता है, जिसका कण-कण उसका पहचाना है। 'अश्क' के अन्य उपन्यासों में एक मुहावरे का अधिक प्रयोग हुआ है, 'जिस गाँव को नहीं जाना, उसका नाम ही क्यों पूछना,' ऐसा लगता है कि उनके कलाकार की एक संकेतात्मक अन्तर्ध्वनि है, जो चेतावनी दे रही है कि भारी-भरकम उपन्यासों की बात छोड़ो, छोटे-छोटे गीति-तत्व तुम्हारी अपनी चीज़ हैं, यदि उपन्यास की रचना करनी हो तो उसे ही उपजीव्य बनाओ।

यदि 'बड़ी-बड़ी आँखें' में अश्क की कला ने कुछ प्रगति की है तो इसी अर्थ में और यही उल्लेखनीय बात भी है। लेखक ने अपने Range को समझा है और उसी की सीमा में अपना व्यापार कर रहा है।

अंग्रेज़ी औपन्यासिकों से अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिन्होंने अपने क्षेत्र के बाहर जाकर, उस भूमि पर पदार्पण करने की चेष्टा कर, जो उनकी अपनी नहीं (जिसने उनकी सृजनात्मक प्रतिभा को आन्दोलित नहीं किया है ।) केवल अपने लिए आफ़त मोल ले ली है, अपने यश की धवल चादर में कलंक का धब्बा लगाया है । टामस हार्डी ने भले ही कोशिश की हो कि वे उच्चवर्ग के रहन-सहन का ज्ञान प्राप्त कर लें, बार-बार जाकर उनकी संगति में रहने का प्रयत्न किया हो, परन्तु उसका सृजनात्मक रूप में उपयोग करने में वे सदा असफल रहे । चार्ल्स डिकेन्स ने उच्चवर्गीय व्यक्तियों के चित्रण की चेष्टा तो की है, पर यह उनके लिए अच्छा होता कि वे ऐसे प्रसंगों से अपने को बचाते । निम्नवर्ग के व्यक्ति का वर्णन करते समय उनकी लेखनी जिस तरह सजीव हो जाती है, उसकी छाया भी उच्चवर्ग के वर्णन को प्राप्त नहीं हो सकी है । अभिजात्य-जीवन उनका क्षेत्र ही नहीं है । युग बीत गया है, उपन्यास-कला कितनी ही प्रौढ़ हो चली है, पर जीन आस्टिन का आदर सदा ही बना रहेगा । कारण ? यही कि वह एक ऐसी महिला थी, जिसने अपने क्षेत्र को पहचाना था और उसके बाहर जाने के लालच की बुरी कला से बची थी। यहाँ क्षेत्र और अनुभव को समानार्थक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए । एक लेखक का अनुभव विशाल हो सकता है, प्रयत्न कर उसकी मात्रा में वृद्धि की जा सकती है । उदाहरणार्थ आपका जन्म नगर के अभिजात्य वर्ग में हुआ है, आप देहात के किसान के साथ रहकर इस नये जीवन का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं, पर वह आपके अन्दर पैठकर सृजनात्मक प्रतिभा को जगा दे, यह आवश्यक नहीं है । यह एक रहस्यमयी प्रक्रिया है, जिसका सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक, मनुष्य के शैशवकालीन जीवन से जोड़ते हैं । शिशु का प्रारम्भिक जीवन, उसका वातावरण और उस पर पड़े हुए प्रभाव, मनुष्य के व्यक्तित्व को कुछ इस तरह

ढाल देते हैं कि वह अनुभव के कुछ ही अंश का सृजनात्मक प्रयोग करने में समर्थ हो सकता है। अनुभव तो कुछ भी नहीं है। फ़्लावेयर बड़े उत्साह के साथ अपने मित्र की पत्नी की अर्थी के साथ श्मशान-भूमि तक गये तो थे कि मैडम बोवेरी के एक दृश्य के वर्णन के लिए कुछ उपयोगी सामग्री मिलेगी, पर वहाँ एक ऐसे 'बोर' (Bore) से मुलाकात हुई, जो मिश्र देश के पुस्तकालय और अपने देशाटन का वर्णन करने लगा, तो वहाँ से अफ़सोस करते हुए लौटे।

इस दृष्टि से अश्क जी के उपन्यासों के सहारे उनके तथा मनुष्य के मनोविज्ञान का अध्ययन किया जा सकता है। पूछा जा सकता है कि क्या कारण है कि अश्क जी की लड़कियाँ इतनी मासूम, इतनी सरल, इतनी ट्रेजिक, इतनी भावुक तथा अपनी तरलता से पत्थर को भी पिघला देने वाली होती हैं? पुरुषों के बाहरी मार्दव और माधुर्य में कहीं-कहीं अहं-गर्व की भयंकर गुरुता क्यों होती है? समाज और उसकी गतिविधि पर इतनी मीठी, पर तीखी चुटकी लेने में वे पारंगत क्यों हैं? साथ ही एक बड़े कैनवेस को अपनी उपन्यास-कला में एक सावयविक एकता देने में वे सफल क्यों नहीं हैं?

'बड़ी-बड़ी आँखें' में भले ही कुछ अस्वस्थ मांस, स्वास्थ्य का झूठा आभास देने वाला कुछ, झड़ गया हो, पर स्वास्थ्य की ताज़ी लाली अवश्य है। संगीत जी लाल हैं ही, तीरथराम में भी ताज़ा खून है, वाणी की बात छोड़िए, देवाजी तो स्वयं ही लाल नहीं, दूसरों को भी लाल बनाने में समर्थ हैं। बस जित देखो तित लाल।

मुझे प्रसन्नता है कि 'अश्क' जी की प्रतिभा नया मोड़ ले रही है। 'बड़ी-बड़ी आँखे' सच्चे अर्थ में ट्रेजिडी है, केवल दुर्भाग्य के विजृम्भण मात्र से निर्मित कथा-मात्र,—Hard Luck Story नहीं। हार्ड लक स्टोरी उसे कहते हैं, जिसमें घटनाएँ बिना किसी गम्भीर आधार के आकस्मिकता की लहर पर चढ़ती-उतरती रहती हैं, उनमें कार्य-कारण-

श्रृंखला नहीं रहती, वे अपनी नैसर्गिक शक्ति की अन्तस्थ माँग के रूप में विकसित नहीं होतीं, पर ट्रेजिडी की घटनाएँ पात्रों के चरित्र के ही भीतर से स्वाभाविक रूप से घूरती दिखलायी पड़ती हैं, लेखक की ओर से कहीं भी किसी प्रकार के दबाव का एहसास नहीं होता है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' के सृजन में किसी प्रकार का दबाव मालूम होता है, ऐसा कहने वाला सचमुच साहसी व्यक्ति होगा।

बड़ी-बड़ी आँखें : व्यक्ति मर्य्यादा का समर्थन

लक्ष्मीकान्त वर्मा

एन्थानी ट्रालोप ने एक स्थान पर लिखा है :

"The novelist's characters must be with him as he lies down to sleep and as he wakes from his dream. He must learn to hate and to love them. He must argue with them and even submit with them."

किन्तु अश्क जी ने इसके विपरीत 'बड़ी-बड़ी आँखें' में पात्रों के साथ जीवन चेतना का संसर्ग स्थापित करने की अपेक्षा 'हिप्नाटिज़्म' की शैली का प्रयोग किया है। जहाँ एक अच्छे उपन्यास में लेखक और पात्रों का अनुभूत्यात्मक सम्पर्क इसमें नयी स्फूर्ति पैदा कर देता है, वहाँ अश्क जी का उपन्यास इस अनुभूत्यात्मक सम्पर्क के अभाव में, मात्र चेतना-शून्य स्थिति पैदा करके पात्रों को काठ के पुतले-सा नचाता हुआ लगता है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' का प्रत्येक पात्र अपनी स्वाभाविक

मन:स्थिति में नहीं रह पाता। उसके ऊपर एक ओर 'देवाजी' का आतंक है और दूसरी ओर लेखक का अनावश्यक हस्तक्षेप। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि ये पात्र अपनी अनुभूत स्थिति से विस्थापित तो हैं ही, साथ ही लेखक की पैनी दृष्टि से इतने अधिक बँधे हैं कि उनकी निष्कृति ही नहीं हो पाती। उपन्यास के सभी पात्र स्वयं अपनी प्रकृति से तटस्थता निभाने में निपुण हैं। न तो उनसे घुल-मिलकर घटना विकसित करने का प्रयास है, न उन पात्रों को इसकी स्वतन्त्रता ही प्राप्त है।

अस्तु 'बड़ी-बड़ी आँखें' केवल संत्रस्त पात्रों की घटनाहीन कथा बनकर रह जाता है। समूह-का-समूह दबी हुई इच्छाओं (repressed wishe)s का एक विक्रान्त दल है, जो देवाजी-जैसे आदर्शवादी नेता के खोखलेपन को चित्रित करने के लिए, मोम के पुतले-सा कोमल और कठोर काठ की मोहरों-सा निर्जीव है। यदि देवाजी का खोखला आदर्शवाद, इस आन्तरिक-मानसिक अस्वस्थता के कारण, यथार्थ स्वीकार करने में असफल रहा है तो दूसरी ओर वह यथार्थ भी उतने सशक्त स्वरों में नहीं उभर सका है, जितना कि उपन्यास के विस्तार को देखते हुए आवश्यक है। ऐसा नहीं है कि उपन्यास में तीव्रतम अनुभूतियों की अवहेलना की गयी हो, किन्तु यह सत्य है कि केवल लेखक के अनावश्यक हस्तक्षेप के कारण वे नहीं उभर सकीं। शैली-गत रूढ़ियाँ और उनकी दुरूहता के कारण माध्यम यथार्थ को नहीं वहन कर पाया।

इस उपन्यास की मन:स्थिति यह है कि सारी कथा परोक्ष की घटना बनकर सामने प्रस्तुत होती है। यह परोक्ष ही आतंकित वातावरण को पैदा करता है। प्रायः सभी पात्र एक-दूसरे को शंकित दृष्टि से देखते हैं। देवाजी अपनी धर्मपत्नी से आतंकित हैं, मधवार साहब देवाजी की सौम्यता से आतंकित हैं, ज्ञानीजी स्वयं अपनी आदर्शवादिता के

मिथ्या बोझ से संत्रस्त हैं, तीरथराम अपनी मूर्खता से पीड़ित है, संगीत अपने वैचित्रिक अहम् से आक्रान्त है, वाणी अपने मानसिक दबावों के कारण रुग्ण है, नवी अपने संस्कारों से प्रताड़ित है, नन्दलाल एक पछतावे के साथ समझौता करता घूम रहा है। सारा आश्रम विकल मनःस्थिति वाले व्यक्तियों का ऐसा विचित्र संग्रहालय है कि स्वाभाविकता और औचित्य दोनों को ठेस पहुँचती है।

यद्यपि यह सही है कि आज के सामाजिक गठन में व्यक्ति का स्वातन्त्र्य एक बहुत बड़ी समस्या बनकर उपस्थित हो गया है, फिर भी इस उपन्यास का एक भी पात्र न तो आदर्शवादी जीवन के प्रति श्रद्धा रखता हुआ दिखलायी पड़ता है और न इस सामाजिक बाह्यारोपण के प्रति विद्रोह ही कर पाता है। कोई भी निजी प्रतिज्ञा (self commitment) जीवन के सम्पूर्ण अस्तित्व से बड़ी नहीं हो सकती, किन्तु इस उपन्यास में जिन सम्भावनाओं का आभास मिलता है, वे विचित्र हैं।

● क्या कोई भी सामाजिक व्यवस्था समूची मानव-आस्था को इस प्रकार विकीर्ण कर सकती है कि उस वातावरण में कोई भी ऐसा पात्र न विकसित हो, जो समस्त दुराग्रहों के प्रति विद्रोह कर सके या उनके विरोध में नये उभरते हुए जीवन-सत्यों को सबलता या सफलता के साथ प्रस्तुत कर सके?

● यदि यह मान भी लिया जाय कि अश्क जी का विश्वास 'कम्यून' या आश्रम के जीवन के प्रति नहीं है, तो क्या संगीत-जैसे नायक का चुपचाप समस्त कम्यून आदर्श को त्यागकर, चोरी से भाग जाना उचित है? यदि है तो इससे 'कम्यून' की रूढ़ियों में कमी कहाँ आती है?

● कम्यून का रेजीमेण्टेड जीवन क्या इतना कठोर सत्य है कि उसके विरोध में कुछ भी कहना असम्भव है? संगीत, जो उपन्यास का नायक है, जो शिक्षित या जागरूक सदस्य है, उसका इन थोथे विचारों

के विरुद्ध आत्म-समर्पण यह सिद्ध करता है कि कोई भी व्यवस्था, चाहे वह आश्रम के रूप में हो या कम्यून के—व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की हत्या करती है।

● एक सत्य, जो समस्त उपन्यास के कथा-तत्व से स्वतः विकसित होता है, वह यह है कि इस प्रकार के कम्यून अथवा आश्रम में फ़ासिस्ट-वादी अधिनायकत्व का प्रधान स्थान होता है, जो मनुष्य से उसकी समस्त विवेक-शक्ति और चिन्तन-शक्ति को छीन लेता है, साथ ही उसे आत्मा के विरुद्ध समझौता करने के लिए बाध्य भी करता है।

● फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि इस प्रकार का जीवन उन घृणित परिणामों में उपजता है तो फिर संगीत और वाणी जैसे पात्रों का तीरथराम-जैसे निम्न-वर्ग के व्यक्ति के सामने पराजित होना आवश्यक हो जाता है, और यदि वे इस पराजय को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर उस व्यवस्था को खण्डित करने की शक्ति किसमें आयेगी ?

बात जो भी हो, समस्त उपन्यास को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि लेखक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के पक्ष में है। आश्रम और देवाजी सामूहिक जीवन के खोखले आदर्शवाद के प्रतीक हैं। व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता इस प्रकार के रेजिमेण्टेड जीवन से पृथक होकर ही रक्षित रख सकता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि लेखक की समस्त सहानुभूति बाह्या-रोपित सामाजिक सत्य पर नहीं है, जिसमें कुण्ठाओं और कुत्सित मनोग्रन्थियों का बाहुल्य है। अश्क जी के उपन्यास के ये निष्कर्ष व्यापक मानव-जीवन की व्यक्ति-निष्ठा से सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हैं। आज के मनुष्य को किसी भी आदर्शवाद के माध्यम से (चाहे वह गांधीवाद हो या कम्यूनिज़्म; चाहे वह देवाजी का आश्रम हो या कोई राजनीतिक पार्टी का कम्यून) रेजिमेण्टेड जीवन-प्रणाली की घुटन में कैद करके नहीं रखा जा सकता। हो सकता है कि अश्क जी का नायक संगीत, चुपके से उस

व्यवस्था से फ़रार होकर मुक्त हो जाने में ही सफलता मान सके, किन्तु अन्य व्यापक जीवन का प्रतिनिधि व्यक्ति उस रेजिमेण्टेड जीवन के प्रति चोट करने में नहीं चूकेगा और उसका चोट करना शायद अधिक यथार्थ भी होगा।

साधारण मनोवैज्ञानिक आधार पर 'बड़ी-बड़ी आँखें' दबी, कुण्ठाग्रस्त मनःस्थितियों वाले पात्रों का एक समूह है, जो पुंसत्वहीन उमस में घुट-घुटकर विकसित होता है, और वह उमस और घुटन ऐसी है कि उसके शिकंजे में प्रायः सभी पात्र अर्द्ध-विक्षिप्त मनःस्थिति में ऐंठ-ऐंठकर रह गये हैं। चाहे वह उपन्यास का नायक संगीत हो, चाहे वह वाणी हो, चाहे तीरथराम हो या देवाजी की धर्मपत्नी हों, सभी विक्षिप्त हैं। देवाजी की पत्नी का व्यक्तित्व तो 'कामरू-कमच्छा' के देश की उस जादूगरनी-सा है, जो प्रत्येक पात्र को भेड़ या बकरी बनाकर रखने में ही रस लेती है, और शेष पात्रों की कृत्रिम हलचल ठीक उसी प्रकार लगती है, जैसे सब-के-सब एक ठहराव में उपजे हुए कीटाणु हैं, जो केवल अपना जीवन-परिचय मात्र पानी की सतह पर कृत्रिम संकेतों द्वारा देते हैं। जो इनसे पृथक हैं, वे केवल विक्रान्त दासों की भाँति केवल परोक्ष में दबी-दबी असन्तुष्टता प्रकट करते हैं। वे न तो जीवन की मूल प्रकृति को अपना पाते हैं, न उसकी विकृतियों में रस ही ले पाते हैं। सारा उपन्यास जिस विरोधाभास में पनपता है, उसमें वे पेट के बल सरकने वाले जीव लगते हैं—लगते हैं इसलिए कि यदि वे सफलता के साथ ऐसे चित्रित किये गये होते तो भी कला की दृष्टि से उसमें कोई आपत्ति नहीं होती, किन्तु खेद तो इस बात का है कि वे वैसे भी नहीं हो पाये हैं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अभाव माध्यम को शिथिल और प्रेषणीयता की दृष्टि से कमज़ोर बना देता है।

संगीत और वाणी का मौन प्रेम भी इसी प्रकार का है, जिसमें

स्वास्थ्य की अपेक्षा रुग्ण मानसिक काई अधिक है। विरोधाभास यह है कि संगीत प्रौढ़ नायक है, जिसकी पत्नी मर चुकी है और वाणी का अक्षत कुँआरापन— जिसे संगीत नन्हीं बालिका के रूप में सर्वप्रथम स्वीकार करता है— उपन्यास के स्तर को स्वाभाविकता नहीं दे पाते। संगीत भी उपन्यास के अन्त तक पूरा तीरथराम का प्रतिरूप बन जाता है। यह भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य होता, यदि संगीत के व्यक्तित्व को लेखक के पूर्वाग्रहों से मुक्ति मिल पाती। लेकिन ऐसा न होकर वह एक असन्तुलित यौन-जिज्ञासा से प्रताड़ित प्रेतात्मा बन कर ही रह गया है। ठीक इसी प्रकार का व्यवहार वाणी के चरित्र के साथ हुआ है। वाणी का समूचा व्यक्तित्व उस रेजिमेण्टेड कम्यून-टाइप जीवन के शिकंजे में इतना कसा हुआ है कि उसकी निष्प्राण 'बड़ी-बड़ी आँखें' ही उपन्यास में आ पायी हैं, उसका व्यक्तित्व नहीं। कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि वाणी संगीत के जीवन में स्वतः, अपनी इच्छाशक्ति से प्रवेश करती है, किन्तु उसका समूचा व्यक्तित्व अनावश्यक सीमाओं में केवल समझौता बन कर रह गया है। उपन्यास का हल्का रोमान्स, आश्रम के किचन से आगे नहीं बढ़ पाता। यदि वह उस रेजिमेण्टेड जीवन का परिणाम होता तो भी उचित होता। किन्तु ऐसा न होकर वह समूचे उपन्यास के ढाँचे के दोष के कारण हुआ है, इसलिए यह मनोवैज्ञानिक कृत्रिमता भी विचित्र लगती है।

देवाजी-जैसे पात्र आज हमारे समाज में बहुत मिल जायेंगे, किन्तु उपन्यास में देवाजी का व्यक्तित्व भी उन समस्त सम्भावनाओं के साथ नहीं प्रस्तुत हो सका है। जैसा कि स्पष्ट है, उसका एकमात्र कारण यह है कि क्या देवाजी और क्या उपन्यास का कोई और पात्र, सब किसी जादूगर की झोली में बन्द खिलौने के समान हैं, जिनका स्वयं का कुछ अस्तित्व ही नहीं है, वे केवल प्रदर्शित किये जाते हैं, स्वयं प्रदर्शन नहीं करते। सबसे बड़ी बात है कि लगभग दो-ढाई सौ

पृष्ठों के इस उपन्यास में केवल एक छोटी-सी घटना ग़ुलाम नबी को लेकर घटती है, बाक़ी सारी कथा वर्णनात्मक मानसिक उपज है। वक्तव्य में भी कोई रस नहीं रह जाता, क्योंकि परिस्थितियों का संघर्ष और उत्कर्ष, उसकी उलझन और उलझनों में व्यक्तित्व को अपना पार्ट निभाने का कोई अवसर ही नहीं आता। कुछ पात्र तो ऐसे हैं कि बिना उनके कथा की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता, जैसे मधवार साहब, नन्दलाल या कुलबीर सिंह इत्यादि।

कुछ पात्र तो अर्द्ध-विकसित-से केवल मूक छाया की भाँति उपन्यास में आते हैं। जिनका न तो कोई महत्व है और न कोई आकार-प्रकार। उपन्यास या नाटक में ऐसे पात्रों का क्षणिक प्रवेश निषिद्ध नहीं है, किन्तु जब कभी ऐसे पात्र लाये जाते हैं तो जिस क्षण की पूर्ति के लिए वे प्रस्तुत होते हैं, उस क्षण के वे जीवन्त तत्व होते हैं और अपने उस क्षणिक जीवन-काल में अपना एक अद्भुत प्रभाव भी छोड़ जाते हैं। 'बड़ी-बड़ी आँखें' के पात्र इस प्रौढ़ता के साथ नहीं आते। परिणाम-स्वरूप वे महत्वहीन पैरासाइट के रूप में केवल फेन की तरह उपजते हैं और मिट जाते हैं।

टैबूज़ और पूर्वाग्रहों का मखौल उड़ाने की बजाय, या उनको तोड़कर नये स्वच्छ और सुन्दर विधान को विकसित करने की बजाय, उपन्यास में उनका समर्थन और उनकी अपूर्व शक्ति के सामने पराजय स्वीकार करने की भावना अधिक सबल रूप से व्यक्त हुई है। सारा उपन्यास इन्हीं टैबूज़ के वातावरण में लिपटा हुआ है। वाणी किचन और डाइनिंग-हॉल के माध्यम से अपना प्रणय विकसित करना चाहती है। पिछले प्रेमियों के समान किचन से लगे हुए टब में जूठे बरतनों को रखते समय केवल मौन आँखों के संकेत से उभरा हुआ अनुराग इतनी बड़ी कथा का सूत्रपात करता है। इन्हीं टैबूज़ का काम्प्लैक्स तीरथराम को भी है, जो अर्द्ध-विक्षिप्त उद्दण्डता का प्रतीक

बना फिरता है। ज्ञानीजी और स्वयं देवाजी का टैबूज़ से संत्रस्त व्यवहार करना तो उपयुक्त है ही। ऐसी स्थिति में हुआ यह है कि उपन्यास का कथानक भी घुटकर रह गया है। इसके बदले होना यह चाहिए था कि इन टैबूज़ और पूर्वाग्रहों की असमर्थता साधारण जीवन के स्वस्थ व्यवहार के समक्ष उभर कर व्यक्त होती। इस दृष्टि-कोण से एक बार फिर यह कहना पड़ता है कि माध्यम के शिल्प का चुनाव (Choice of Medium) यदि व्यंग्य या सीधा-सादा वर्णन होता तो शायद अधिक सफल होता।

यह तो हुई उपन्यास की मनोवैज्ञानिक असमर्थता। परिप्रेक्षण एवं दृष्टिकोण की दृष्टि से भी इस उपन्यास को देखना आवश्यक है, क्योंकि शिल्पगत एवं कथा के मनोवैज्ञानिक विकास के अभाव में यदि मात्र दृष्टिकोण या परिप्रेक्षण (Perspective) की नवीनता, उसकी बृहत् व्यापकता भी, किसी उदात्त मानव-मूल्य से सम्बन्धित हो तो भी रचना का महत्व बढ़ जाता है। इस दिशा में भी हमें उपन्यास में विशेष नवीनता नहीं दिखलायी पड़ती। एक ओर तो इसका कैन्वस इतना छोटा है कि उसमें सीमित परिस्थितियों के वातावरण में और कथानक के चयन में इस बात की कम सम्भावना हो सकी है। इसके साथ यह सम्भावना नष्ट भी हुई है।

किन्तु परोक्ष रूप से व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समूह-निर्देश का संघर्ष इसमें अधिक उभर कर आया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह उपन्यास किसी भी प्रकार के रेजिमेण्टेड जीवन की असफलता सिद्ध करने का प्रयास है। अश्क जी आज के इस युग के इस ज्वलंत प्रश्न से अपने को नहीं बचा पाये हैं। निश्चय ही कथानक के लिए चुना गया स्थल कोई राजनीतिक कम्यून नहीं है, फिर भी देवाजी का आश्रम मूल रूप में कम्यून के आधार पर ही विकसित हुआ है और वह कई ऐसे प्रश्न उठाता है, जिनका सम्बन्ध कम्यून के बाह्यारोपित

मतवाद और व्यक्ति के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य से है। इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास का उद्देश्य इस बाह्यारोपित समूह-चेतना की अपेक्षा व्यक्ति-विवेक को अधिक मूल्यवान मानता है और इस बात की प्रेरणा देता है कि इन थोथे आदर्शों के माध्यम से जीवन का सत्य नहीं देखा जा सकता, व्यक्ति की आत्मनिष्ठा और उसके स्वत्व को मिटाकर कोई भी आदर्शवाद स्वस्थ रूप से नहीं विकसित हो सकता। केवल इस तथ्य का समर्थन जिस रूप से उपन्यास में विकसित हुआ है, वह आधुनिकतम मूल्यों को उभार कर रखता है। यद्यपि सक्रिय रूप से लेखक उस व्यक्ति-मर्य्यादा का साथ नहीं दे पाया है, फिर भी जिस अंश में और जिस मात्रा में यह सत्य उद्घाटित हुआ है, वह प्रशंसनीय है।

एक समस्या और भी बहुत तीव्र ढंग से व्यक्त हुई है और वह यह कि क्या अभियोगी संस्कार से वर्ग-विशेष मुक्त हो सकता है? ग़ुलाम नबी का व्यक्तित्व यह प्रश्न प्रस्तुत करता है। संगीत इस प्रश्न को ग़लत सिद्ध करने का प्रयास करता है, किन्तु कड़े रेजिमेण्टेड अनुशासन में इस सामाजिक प्रश्न पर प्रयोग करने का अवसर नहीं मिल पाता। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस प्रकार के आश्रम या कम्यून द्वारा मूलभूत समस्याओं का निराकरण करना लेखक सदैव असम्भव समझता है, क्योंकि इस प्रकार के जीवन में व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा अंश सामूहिक अनुशासन के नाम पर किसी व्यक्ति-विशेष को समर्पित कर देना पड़ता है, जिसका परिणाम यह होता है कि छोटे-से-छोटे मानवीय प्रश्न पर भी व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से विचार करने की आज्ञा पाना कठिन ही नहीं, असम्भव भी हो जाता है।

उपन्यास में ग़ुलाम नबी का प्रवेश बहुत ही सफलता से उपन्यास को उभार दे सकता था। अन्त में चाहे संगीत को उस समस्या पर सफलता मिलती या न मिलती—ये प्रश्न दूसरे थे—किन्तु यह समस्या उपन्यास को एक गहराई प्रदान कर सकती थी, परन्तु शिल्पगत

कमज़ोरी के कारण यह प्रसंग सफलतापूर्वक उभारा नहीं जा सका है और असाधारण घुटन के वातावरण में इस पात्र की अकाल मृत्यु भी हो जाती है। काश कि उपर्युक्त मनोग्रन्थियों से यह उपन्यास मुक्त होता और तब इस पृष्ठभूमि में कथा का स्रोत स्वाभाविक रूप में विकसित होता।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि 'अश्क' जी का यह प्रयास सराहनीय है, क्योंकि इससे उनके विचार-दर्शन पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। वे व्यक्ति-मर्य्यादा के समर्थक हैं, साथ ही वे उस रेजिमेण्टेड जीवन के विरोधी भी हैं, जिसमें झूठे आदर्शवाद के नाम पर वास्तविक स्वतन्त्रता नष्ट होती है। इसके अतिरिक्त इस उपन्यास से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि अश्क जी संस्कारच्युत ग़ुलाम नबी-जैसे मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों वाले दयनीय वर्ग के प्रतिनिधि के प्रति उस प्रकार नहीं सोचते, जिस प्रकार कि रेजिमेण्टेड जीवन-विधान में सोचा जाता है। जहाँ तक इन सामाजिक विकृतियों का प्रश्न है, लगता है अश्क जी क्रिश्चियन उदारता के समर्थक हैं।

हम आशा कर सकते हैं कि अश्क जी इस प्रकार की अन्य समस्याओं पर इतनी ही स्वतन्त्रता के साथ, किन्तु अधिक प्रौढ़ शिल्प का परिचय देते हुए, अधिक मर्मस्पर्शी कृति देंगे।

●

आदर्श और यथार्थ के संघर्ष का चित्रण

सतीशचन्द्र श्रीवास्तव

'सितारों के खेल,' 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' के बाद 'बड़ी-बड़ी आँखें' अश्क जी का चौथा उपन्यास है। सब मिलाकर इसका माहौल लेखक की अन्य औपन्यासिक कृतियों से कुछ जुदा-जुदा-सा है। पन्त जी ने इसे 'गीति उपन्यास' की संज्ञा दी है, जो वस्तुतः इस पर अत्यन्त सटीक बैठती है। इसमें अवान्तर प्रसंगों और आनुषंगिक घटनाओं की कोई भीड़-भाड़ नहीं, बस एक सबल, सशक्त, पुंजीभूत अनुभूति ही द्रवित होकर तरल रूप में समस्त आख्यान के ऊपर छहरी हुई है। तलवर्ती सैद्धान्तिक संघर्ष और वैचारिक ऊहा-पोह भी उसी का आलोड़न-विलोड़न है। अनुभूति की तीव्रता और निजीपन जिस सीमा तक कथा के विस्तार को प्रगाढ़ रागात्मकता से आच्छादित रख सकती है, उसके ही अनुरूप कथानक में संक्षिप्तता और घटना-शृंखला में कसाव है।

उपन्यास-नायक की चेतना के जिस बिन्दु से यह कथा निःसृत होती है, उसके पीछे उसकी गहरी आंतरिक चुभन, वेदना और

आत्मग्लानि छिपी हुई है। मोती-से सफ़ेद दाँतों वाली और खुलकर हँसने वाली उसकी पत्नी पित्तो का मधुर साहचर्य, आखिर मौत ने एक लम्बी बीमारी देकर छीन ही लिया और विवाह के पहले कुछ वर्षों की व्यामोहावस्था को एक क्रूर झटका लगा। मन की अशान्ति दूर करने की ग़रज़ से वह देवनगर आया, लेकिन बिडम्बना तो यह रही कि यहाँ उसे और भी कचोटती अशान्ति मिली। शान्ति का अन्वेषण, पर अंततः अशान्ति की उपलब्धि— इस अन्तराल का घटना-क्रम, कथा-नायक की आत्मीयता से सम्पृक्त होकर, तज्जन्य आवेग के साथ, उसकी स्मृति की पर्तों से कथानक के आकार में उभरा है।

कथानक के विकास की स्वाभाविक, किन्तु मन्थर गति का पहला झटका बड़े दिन की शाम को आयोजित उस समारोह में लगता है, जब वाणी संगीतसिंह के निकट बैठकर अपने पिता, चचेरे भाई और तीरथराम को हैरत में डाल देती है। यहीं उसकी 'झुकी-झुकी आँखों की ऊर्ध्वगा दृष्टि के पैनेपन का परस' संगीत को बहुत गहरे जाकर छू लेता है। उसे अपने संतप्त मन को सहला जाने वाले स्नेह की एक क्षीण आभा के दर्शन तो होते हैं, किन्तु तीरथराम की ओर से आने वाले भावी संघर्ष के संकेत को वह नज़रन्दाज़ नहीं कर पाता है— 'सामने के स्तम्भ से लगे तीरथराम से मेरी आँखें चार हुई। वह निर्निमेष हमारी ओर देख रहा था— भौंहें चढ़ी और आँखें तनी थीं और उसके चेहरे पर एक काला-सा बादल घिर आया था।'

जिस क़दर डाइनिंग-हॉल और बाहर मैदान की छिटपुट मुलाक़ातों के साथ संगीत के प्रति वाणी की हमदर्दी और स्नेह-मिश्रित प्रेम उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होता गया, तीरथराम की जासूसी उतनी ही सजग और सरगर्म होती गयी और विद्वेष की कड़ुवाहट स्पष्ट होती चली गयी। तीरथराम, हरमोहन आदि की ओर से व्यक्तिगत स्तर पर पल रही ईर्ष्या और जलन की चरम परिणति 'एप्रिल फ़ूल' की उस घटना

में मिलती है, जिसमें नाबालिग़ लड़की को बहकाने का झूठा अभियोग गढ़कर संगीत का सरे-आम मज़ाक़ उड़ाया गया। इस प्रसंग से घटना-क्रम जिस पर्यवसान की ओर मुड़ता है, वह शायद कुछ समय के लिए थम जाता, यदि इसके पूर्व ही वैचारिक और सैद्धान्तिक स्तर पर नवी के दाख़िले को लेकर देवाजी और संगीत के बीच मनमुटाव की दरार न पड़ गयी होती। वाणी की सहानुभूति और स्नेह इस दरार को भर देते हैं, किन्तु जब फिर देवसैनिकों की ओर से नवी को नौकरी से अलग करने का आग्रह बढ़ता जाता है, तो संगीत उसे निकालने की बजाय स्वयं ही देवनगर छोड़कर चला जाना श्रेयष्कर समझता है।

यों तो यह उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है, किन्तु फिर भी घटना-क्रम में एक ऋजुता, श्रृंखलाबद्धता, संगठन और गति है। कथा की श्रृंखला में जहाँ भी दो-एक स्थलों पर व्यतिक्रम है, उनकी बड़ी ही सार्थक नियोजना की गयी है। उदाहरण के लिए, मैं यहाँ पित्तो के प्रसंग को ले रहा हूँ। कथा-विकास के दौरान में नायक दो स्थलों पर मुड़कर अपनी पिछली सुखमय वैवाहिक ज़िन्दगी और उसके दर्दनाक उपसंहार के प्रसंगों का ज़िक्र करता है। किन्तु सच बात तो यह है कि पित्तो को हम कथा से पृथक करने की कल्पना भी नहीं कर सकते। उसकी मौत ही तो कथा का वह उद्‌गम है, जो संगीत को शान्ति की तलाश में देवनगर पटककर, उसे उपन्यास की सारी घटनाओं के सूत्रों से जोड़ता है। इस प्रसंग की मार्मिकता ही संगीत की मनःस्थिति की उस पीठिका को स्पष्ट करती है, जिसके सन्दर्भ में उसकी मानसिक बेचैनी और शान्ति की खोज के प्रति किये गये प्रयासों की गम्भीरता संगत प्रतीत होती है। आसन्न मौत की मँडराती छाया देखकर जब पित्तो दबे स्वर से पूछती है—

"दार जी, नरक और स्वर्ग में क्या आपका ज़रा भी विश्वास

नहीं है ?" तो आश्वासन के बदले वह अपने पति से जो कुछ सुनती है, वह कितना कटु और निर्मम है—"पित्तो, स्वर्ग और नरक के बारे में तुम मेरे विचार जानती हो, लेकिन तुमने अपना कर्त्तव्य पूरी तरह निभाया है, यदि कोई स्वर्ग है तो वह अवश्य तुम्हें मिलेगा।"

तीसरे दिन वह मर गयी।

इस प्रसंग की करुणा पाठक की संवेदना को द्रवीभूत करने में समर्थ है, जिससे वह नायक की मनःस्थिति से सहज ही में तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

जैसा कि ऊपर भी ज़िक्र किया जा चुका है, इस उपन्यास का स्वरूप आत्मकथात्मक है और कथा में नायक की संस्मरणात्मक रागात्मकता के तत्व अनुस्यूत हैं, किन्तु यह पक्ष इतना संयमित और संतुलित है कि उससे पात्रांकन की विविधता पर कोई आँच नहीं आने पायी है। कथानक के पात्रों का चित्रण न तो एकांगी है और न वह महज़ नायक की व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं और आग्रहों पर आधारित, वरन् उनके चरित्र के अनेकमुखी पहलुओं की व्याख्या अन्य विचार-शील एवं जागरूक पात्रों के माध्यम से भी व्यक्त हुई है। घटना-क्रम से सम्बद्ध पात्रों की कार्यविधियों के प्रभावपूर्ण संकेतों को ग्रहण कर, पाठक स्वयं भी उनके प्रति निस्संग-निरपेक्ष धारणाएँ बना सकता है।

जिन पात्रों के क्रिया-कलापों के माध्यम से इस उपन्यास के कथानक की सृष्टि हुई है, उनमें प्रमुख हैं देवाजी, संगीत सिंह, वाणी और तीरथराम।

देवाजी देवनगर के संस्थापक, 'देव वाणी' के सम्पादक और 'देवसेना' के प्रधान सेनापति हैं। उपन्यास के कुछ पृष्ठों को पढ़ जाने के बाद देवाजी का जो व्यक्तित्व उभर कर पाठक के मन में आता है, वह है एक स्वप्नद्रष्टा का व्यक्तित्व। लगता है कि गम्भीर, सौम्य और शालीन तबीयत के इस व्यक्ति को अंधविश्वास, सनक और

भाग्यवादिता से बेहद चिढ़ है। उनके लेखों और भाषणों से पता चलता है कि देश के इकलौते स्वर्ग के टुकड़े देवनगर में उन्हें ऐसे वातावरण की सृष्टि अभिप्रेत है, जिसकी हवा हल्की और पवित्र हो, जिसके दरवाज़े खुले और कुशादा हों, जिसमें साँस लेने वालों के दिल और दिमाग़ विशाल और उदार हों।

परन्तु कथा के दौरान में कुछ आगे बढ़कर ही स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः देवाजी की 'कथनी' और 'करनी' में पूर्ण तादात्म्य नहीं है। सवाल उठता है कि आखिर दोनों के बीच व्यवधान के क्या कारण हैं? क्या देवाजी का स्थापित देवनगर महज़ ढोंग है, अथवा आदर्शों के प्रति उनकी निष्ठा कमज़ोर है अथवा उनके व्यक्तित्व में इच्छा-शक्ति की वह दृढ़ता नहीं है, जिसके द्वारा वे अपने प्रचारित सिद्धान्तों को विरोधों के बावजूद, कार्यरूप में परिणत होते देख सकें? इसमें कोई सन्देह नहीं कि देवाजी की देवनगर-सम्बन्धी मान्यताओं को महज़ ढोंग कहकर टाल देना ज़्यादती होगी। यों तो उपन्यासकार ने स्पष्ट संकेत दिया है कि उनके मानवतावाद का उत्स 'रीडर्स-डाइजेस्ट' के लेख हैं और यह भी सच है कि जिस 'यूटोपिया' की स्थापना का उन्होंने प्रयत्न किया है, उसके मूलवर्ती सिद्धान्त व आदर्श प्रचार के लिए उन्होंने बाहर से भी ग्रहण किये, किन्तु फिर भी उनके व्यक्तित्व के इस ओर के रुझान को सरासर झुठलाया नहीं जा सकता। हाँ, यह ठीक है कि आदर्शों के प्रति उनकी दुर्बल निष्ठा और ढुलमुल-यक़ीनी उन्हें अपने वातावरण की ऐसी परिस्थितियों से समझौते करने के लिए मजबूर करती है कि वे अपने आदर्श की ऊँचाई से लुढ़ककर बहुत नीचे पहुँच जाते हैं। ऐसे सभी छुटभइये मसीहों का शायद यही हश्र होता है। सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ आस्था के अभाव से उनमें, प्रायः अपना विरोध सह सकने की शक्ति नहीं होती और इसीलिए अपने प्रचारित सिद्धान्तों व कारगुज़ारियों पर दाद पाने के लिए उनकी

निगाहें घर के भीतर बीवी के चेहरे पर आ टिकती हैं और उनका दिल बाहर मजलिसों में करीब ही बैठे चापलूसों की तालियाँ सुनकर नाच उठता है। देवाजी भी अपने अनुयायियों की प्रशंसा पाने की मंशा से उन्हें अगर किसी अमरीकी मैगज़ीन के किस्से को अपने नाम से जोड़कर सुना देते हैं, तो कोई आश्चर्य नहीं।

उपन्यासकार ने बड़ी कुशलता से घटनाओं के उन पहलुओं को उभारा है, जो देवाजी के व्यक्तित्व के विरोधाभासों को उघाड़ कर रख देते हैं। प्रेक्टिकल स्कूल की स्थापना में उन्होंने अपने थोथे आदर्शवाद को तुष्टि देते हुए, जिस आत्यन्तिक दुनियादारी से उसका सामंजस्य निभाने की कोशिश की, वह नबी और रामा थापा के बच्चे के प्रसंगों से बिलकुल ही स्पष्ट हो गया। पर सच बात तो यह है कि संगीत सिंह ही पहला व्यक्ति था, जिसने बड़ी निर्भीकता और स्पष्टता से देवनगर के स्वप्नद्रष्टा संस्थापक की कथनी और करनी के इस द्वैत की ओर संकेत किया। मधवार साहब यद्यपि देवाजी के कटु आलोचक थे, किन्तु उन्होंने भी कभी खुलकर विरोध नहीं किया। संगीत भी शायद ऐसा न करता, यदि वह थोड़ा व्यावहारिक होता। किन्तु उसका देवनगर आने का उद्देश्य था पत्नी की मौत के बाद सच्ची शान्ति पाना, न कि दुनियादारी निभाना या उसका सबक़ सीखना।

संगीत की नैतिक चेतना और अपने प्रति ईमानदार बने रहने की भावना बड़ी ही जागरूक है। मौत की राह देख रही बीमार पत्नी की तसल्ली के लिए भी क्रूर सत्य के बदले मीठा-सा झूठ बोल सकना उसकी आत्मा को गवारा नहीं है। इस बेहद स्वाभिमानी और संकोची व्यक्ति की अभिरुचि अत्यन्त शालीन और कलात्मक है। अंतरावलोकन और मानव-मन के सूक्ष्म विश्लेषण की जो प्रतिभा उपन्यासकार अश्क के पास है, वह उन्होंने सारी-की-सारी कथा-नायक संगीत को सौंप दी, जिससे वह गहरे, किन्तु निर्भय व पूर्वग्रहहीन आत्मविश्लेषण

के माध्यम से अपनी मनःस्थिति के सभी पक्षों का स्पष्ट उद्घाटन करने में समर्थ है। 'छोटे क़द की पतली, दुबली, बीमार-बीमार-सी पन्द्रह-सोलह वर्षीया' वाणी में आखिर ऐसा क्या सम्मोहन था कि संगीत उसकी ओर आकर्षित हुए बग़ैर नहीं रह सकता। उसका स्वयं का संवेदनशील मन कभी-कभी झुँझलाहट से भरकर सोचने लगता है—'अपने कमरे के उस एकान्त में मेरी पत्नी का चित्र मेरी आँखों के सामने घूम जाता है और मैं खीझ उठता कि क्यों यह ज़रा-सी दो बित्ते की बीमार-सी लड़की, बरमे-सरीखी मेरी सोच तक में छेद किये जा रही है।' किन्तु जब संगीत की अशान्तिमयी मानसिक स्थिति के सन्दर्भ में इस बात को सोचा जाये, तो यह बड़ी ही स्वाभाविक लगती है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पत्नी की मौत के उपरान्त जो व्यथा उसकी ज़िन्दगी में उतर आयी थी, उसे सहला जाने वाला वाणी का स्नेह, कथा-नायक को अपने मोह-पाश में बाँधे बग़ैर नहीं रह सका। अपनी इसी मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए वह स्वयं भी कहता है—

'......बेलि पेड़ का सहारा पाने, उससे लिपट जाने को विवश है, उसकी उस बेबसी से पेड़ अपनी महत्ता पर गर्व कर सकता है, पर उससे लिपटकर वह असहाय, विवश बेलि उसे कितनी स्निग्धता, कितनी पूर्णता प्रदान कर देती है, यह बात तो कुछ-कुछ वह ठूँठ ही जानता है, जिससे लिपटी बेलि को निर्दय झंझावात ने उड़ा दिया हो......।'

जब तक संगीत की पत्नी जीवित थी, वह आत्मनिष्ठ और आत्म-रत रहा और अपने आस-पास की बीमारी, ग़रीबी व मौत को देखते हुए भी अनदेखी करता रहा। पत्नी की मौत और देवनगर-आगमन से उसकी आत्मसंकुचित दृष्टि को जो विशालता और समवेदना को जो प्रसार मिल गया, वह कोई अप्रत्याशित परिवर्तन न था। पित्तो की मौत ने उसकी आँखों पर छाये हुए पर्दे को तार-तार कर डाला

और अब तक ग़रीबी, भूख और मौत को रोमानी दृष्टि से देखने वाली उसकी आँखें उन रोमानी दृश्यों के पीछे छिपे दुःख को भी देखने लगीं। उसकी संवेदना के प्रसार में देवाजी की 'कथनी' से भी प्रेरणा मिली, यह वह स्वयं स्वीकार करता है—'मुझे प्रेरणा उनकी कथनी से मिली है— जिसने मेरी सोयी हुई रूह को जगा दिया, मुझे अन्तर की आँखें और उन आँखों को सपने दिये हैं......।' परन्तु इन समस्त स्रोतों में वाणी के स्नेह का प्रभाव ही सबसे अधिक प्रेरणाप्रद था, जिसने उसकी 'चेतना की मूर्च्छना को छूकर सजग कर दिया था। इन्हीं प्रेरणाओं के फलस्वरूप संगीत को आस-पास की ग़रीबी, दुःख-दर्द विह्वल करने लगा और विरोधों के बावजूद उसने नबी के लिए इतना कुछ किया। किन्तु जब नबी को निकालने का प्रसंग उठा तो परिस्थिति से समझौता करके उसके सामने घुटने टेकने की बजाय, वाणी के स्नेह के तगादे को याद करता हुआ, वह अपने फैसले पर अडिग रहकर देवनगर छोड़ देता है।

लगे हाथों यहीं वाणी की भी चर्चा कर लेना समीचीन होगा। वयःसन्धि पर खड़ी इस मुग्धा बाला की बाल-सुलभ सरलता के साथ-साथ उसके मन में प्रेम के उद्रेक व उसकी संयमित संकुचित अभिव्यक्ति के चित्रण में उपन्यासकार की गहरी अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। उपन्यास में उसकी कायिक चेष्टाओं व क्रियाओं में दोनों ही मानसिक स्थितियों के सम्मिलन के अनेक चित्र हैं। बड़े दिन के समारोहों में लगभग पहली ही मुलाक़ात में वाणी का संगीत के पास बैठना और ऊर्ध्वगा दृष्टि से उसे देखते रहना, उसे कुछ अजीब-सा लगा। संगीत, जिसे अब तक महज़ छोटी बच्ची समझता था, उसके इस वाक्य से तो चौंक पड़ता है—'इस आशा में कि आप गायेंगे, मैं गयी-गयी रात तक जागा करती हूँ।' किन्तु कुछ ही क्षण बाद जिस लहजे में, जिस आंगिक क्रियाओं के साथ वह अपने पिता से संगीत को गाने के लिए

कहने का इसरार करती है, वह तो उसे फिर एक भोली बच्ची की मानसिक स्थिति पर लौटा लाता है—'दार जी, कहिए न संगीत जी से गायें, ये बहुत अच्छा गाते हैं'—वाणी जाकर अपने पिता से चिमट गयी।

यों तो वाणी उस उम्र को पहुँच गयी है, जब अमूमन लड़कियों में समर्पण की भावना का स्फुरण होने लगता है, किन्तु उसकी प्रेम-भावना के विकास में देवाजी की कहानियों का भी असर था, जिन्हें उसने छुटपन में पढ़ा था। उन्हीं कहानियों की नायिकाओं से उसने देखना, बोलना, हृदय की भावनाओं को आँखों में भरना और अपने सामने बैठे व्यक्ति के हृदय में अपनी दृष्टि को उतार देना सीखा था। प्रायः इस उम्र की लड़कियों की प्रेम-भावना बेहद अशरीरी, वायवी और 'प्लेटॉनिक' होती है, जो उदात्त आदर्श व प्रेमी के लिए बड़े-से-बड़ा उत्सर्ग करके उसके हितों से तदाकार होने की वृत्तियों से प्रणोदित होती है। संगीत के प्रति वाणी का प्रेम भी कुछ ऐसा ही है। उसकी सुख-सुविधा व अभिरुचि का उसे विशेष ध्यान है। उसके प्रिय गानों को 'लिसनर' से देखकर सुनवाने के लिए, यदि पिता की त्योरियों का भी सामना करना पड़े तो उसे परवाह नहीं। किन्तु उसके स्नेह-मिश्रित प्रेम में वासना की ज़रा भी गंध नहीं है। कैशोर्य-चपलता को भी उसने बेहद अनुशासित कर लिया है। परायों के दुःख-दर्द के प्रति उसकी संवेदना ने संगीत को भी नयी दृष्टि दी और वह स्वयं नबी के प्रति उसकी चिन्ता की समभोक्ता है। जिन शब्दों में संगीत ने वाणी के इस आभार को स्वीकार किया है, वह उसके प्रेम की स्पृहणीय उपलब्धि है : 'तुम नहीं जानतीं तुम्हें खो देने का खयाल कितना तकलीफ़-देह है, कितना दम घोटने वाला है। लेकिन तुमने जो आँखें मुझे बख्शी हैं, दूसरे के दुख-दर्द को महसूस करने की जो शक्ति प्रदान की है, यह उसी का तगादा था कि मैं यों भाग

आऊँ। लेकिन मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, तुम्हारी उन 'बड़ी-बड़ी-आँखों' की याद, जिन्होंने मेरी आत्मा को आँखें दी हैं, 'देववाणी' के आदर्श पर चलने की प्रेरणा दी है— जीवन भर मेरा पथ उजेला रखेंगी।'

एक प्रश्न और उठता है कि परायों के दुःख-दर्द के प्रतीक नबी के प्रति वाणी की संवेदना और उसके हित में सजग अभिरुचि का उद्गम कहाँ है? थोड़ा गहराई से देखें तो पता चलेगा कि उसकी इस सजगता के पीछे केवल हृदय का योग है। अभी उसकी बुद्धि अपरिपक्व है, देवनगर के आदर्शों अथवा निर्धनता-जैसे प्रश्नों व समस्याओं को उचित परिप्रेक्ष्य में देखकर, कुछ मान्यताएँ बनाकर, उन पर अमल करने की उससे आशा भी नहीं की जा सकती। नबी की प्रगति और गतिविधि के प्रति उसकी चिन्ता-भावना एक रोमानी धुंध से आच्छादित है और वह इसीलिए कि जिस व्यक्ति से उसे प्रेम है— उसके सुख-दुख और चिन्ताओं का समभोक्ता बनना ही उसकी वृत्तियों को परितोष देता है। स्वयं संगीत अपनी परिस्थितियों के विश्लेषण के दौरान में इस तथ्य को अनदेखा नहीं कर सका—

'...नबी के बारीक-से तार को थामे वाणी मेरी ओर खिचती चली गयी।'

उपन्यास के अन्य दो उल्लेखनीय पात्र हैं— मधवार साहब और तीरथराम। मधवार साहब देवनगर के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसने वहाँ की व्यवस्था से सन्तुष्ट न होते हुए भी परिस्थितियों से समझौता कर लिया है और तीरथ उन कुंठित और हेय वृत्तियों का मूर्तिमान रूप है, जो देवनगर के प्रचारित उदात्त आदर्शों के नीचे पल-बढ़ रही थीं।

पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि इस कथा की तह में

आदर्श-यथार्थ का संघर्ष बराबर क्रियाशील रहा है। अकेले व्यक्ति का थोथा आदर्शवाद और उसके प्रति उसकी कमज़ोर निष्ठा, देवनगर को उन उदात्त आदर्शों से अनुप्राणित न कर सकी, जिनकी चर्चा 'देववाणी' के प्रत्येक अंक और देवाजी के प्रत्येक भाषण में बराबर रही। खुले और कुशादा वातावरण, हृदय की उदारता और स्वार्थ-हीनता— इस सब हो-हल्ले के बावजूद देवनगर के वासियों में पार्टी-बन्दियाँ रहीं और दूध-मक्खन, सब्ज़ी-भाजी के मामलों को लेकर लोगों के दिलों में दरारें पड़ती रहीं। बाहर पक्की और अन्दर कच्ची ईंटों से कोठियाँ खड़ी करके बसाया गया यह नगर, प्रतीक रूप में उसी द्वैत की ओर संकेत करता है, जिसका उल्लेख एक देवसैनिक ने इस प्रकार किया था—'इस नगर का बाहर चाहे सुन्दर सही, पर इसकी आत्मा वैसी ही तंग, सीली और गंदी है' देवनगर के खोखले आदर्शवाद के प्रति इससे बढ़कर और क्या प्रहार हो सकता था कि स्वयं उसके संस्थापक की बेटी उसे 'राक्षस नगर' की संज्ञा दे। आदर्श और यथार्थ का यह संघर्ष और उससे उद्भूत लेखक का सन्देश, उपन्यास की कथा में बड़े ही कलात्मक रूप में अन्तर्निहित है।

उपन्यास का कथानक आरम्भ से अन्त तक सुनियोजित तथा सुसम्बद्ध है और पात्रों की मनोवृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण के साथ-साथ, विविध घटना-प्रसंगों के चित्रण-वर्णन भी अत्यन्त सजीव तथा स्वाभाविक हैं। प्रकृति के दृश्य-विधान में प्रयुक्त चित्रात्मक शैली, वातावरण को साकार मूर्तता देने में समर्थ है। बादलों-भरी जाड़े की ढलती साँझ का यह रेखा-चित्र, रंग-रेखाओं से कितना भरा-पुरा है '...आकाश में जहाँ-जहाँ बादल होते, पहले किरमिज़ी, फिर संतरी, फिर पीला-सा रंग काफ़ी देर तक रहता। फिर जब सारा आकाश तिमिराच्छन्न हो जाता, तब भी वह उजली-उजली सफ़ेदी पश्चिम में।बड़ी देर तक उस जगह छायी रहती, जहाँ सूरज ओझल हुआ था। लगता, जैसे साँझ

अब भी सूरज की बाट देख रही हो कि वह फिर आयेगा...और उस जगह से हटने का नाम न लेती हो।'

उपन्यास के चौखटे में प्रकृति के इस खण्ड-चित्र की सार्थकता केवल इसलिए नहीं है कि यह सम्मोहक रेखाचित्र है, वरन् इसलिए कि संगीत सिंह की मनःस्थिति से सम्बद्ध होने के कारण कथा का एक अभिन्न अंग है और देवनगर की घुटनभरी फ़िज़ा की पार्श्वभूमि में आकर उसके प्रभाव को और भी गहरा बना देता है।

अश्क जी के शब्द-चित्रों की संश्लिष्ट योजना, सहज ही में रूप-आकार अथवा मानसिक क्रिया का बिम्ब खड़ा कर देती है। वाणी की पनियारी आँखों का यह चित्र कितना व्यंजक है :

'...उन भोली-भाली, ठहरी-निथरी, झील-सी खामोश, लेकिन इस पर भी शत-शत वाणियों में मुखर, उन बड़ी प्यारी आँखों ने...'

हास्य-व्यंग्य की छींटेकशी में तो लेखक माहिर ही है। यद्यपि इस उपन्यास के वातावरण की संजीदगी में उसे अपनी प्रतिभा के इस पहलू के उपयोग के लिए साफ़ चटियल मैदान तो नहीं मिला, फिर भी जहाँ-जहाँ उपयुक्त अवसर मिले हैं, उसने खासी चुभती चुटकियाँ ली हैं।

●

पत्थर-अलपत्थर

भैरवप्रसाद गुप्त

कश्मीरी घोड़वानों के जीवन-संघर्ष
का यथार्थ चित्र

●

डा० विजयशंकर मल्ल

एक प्रतीकात्मक उपन्यास

●

डा० ब्रजमोहन गुप्त

एक कश्मीरी श्रमिक की जीवन-गाथा

●

हनुमान वर्मा

निम्नवर्ग के व्यक्ति का यथार्थ चित्रण

कश्मीरी घोड़वानों के जीवन-संघर्ष का यथार्थ चित्र

●

भैरवप्रसाद गुप्त

मेरा वतन एक जामा है
जिस पर तरह-तरह के सुन्दर बेल-बूटे कढ़े हैं
जो हमारे तन को ढँकता है

'पत्थर-अलपत्थर' अश्क का नया उपन्यास कश्मीर पर लिखा गया है और कश्मीर के बारे में कुछ भी पढ़ते समय, अनायास मुझे इन पंक्तियों की याद आ जाती है, जो मैंने कश्मीर के विख्यात कवि दीनानाथ 'नादिम' की कविता 'हमारा देश' में सुनी थीं। यह कविता पिछले गणतन्त्र-दिवस पर उन्होंने रेडियो पर पढ़ी थी। तभी से ये सारगर्भित पंक्तियाँ और इनका भाव मेरे दिमाग़ में अटक गया है। मैं जब भी कश्मीर-सम्बन्धी कोई रचना पढ़ता हूँ तो जहाँ यह देखता हूँ कि रचयिता ने उस जामे की सुन्दरता का कैसा वर्णन किया है, वहाँ यह भी देखता हूँ कि जामे की सुन्दरता का वर्णन करते हुए,

वह उसके नीचे ढके तन को देख पाया है कि नहीं।

● मैंने कितने ही विज्ञापन पढ़े हैं, जिनमें कश्मीर की प्राकृतिक सुषमा और स्वास्थ्यकर जलवायु का आकर्षक वर्णन रहा करता है और पहाड़ों, लड़कियों और बाज़ारों के चित्र होते हैं और लिखा रहता है— कश्मीर देखिए। मैदानों की गर्मी और धूल-गर्द से बचना चाहते हों तो कश्मीर आइए...' और मुझे हमेशा लगा है कि कोई भिखारिन लड़की सोने का कटोरा हाथ में लिये भीख माँग रही है।

● मैंने कश्मीर पर कितनी ही रोमानी कहानियाँ पढ़ी हैं, जिनमें 'मेहमानों' को लड़कियाँ भेंट की जाती हैं और बाप या भाई बख़शीश माँगते हैं। उन कहानियों में सुन्दर दृश्यों के वर्णन मिलते हैं, भोली-भाली लड़कियाँ मिलती हैं, बेशर्म माँ-बाप मिलते हैं। लेखकों का कहना है कि वहाँ इतनी ग़रीबी है कि लोग इज़्ज़त बेचते हैं—इज़्ज़त-फ़रोशी के चित्रण के माध्यम से वे लेखक यह दिखाना चाहते हैं कि कश्मीर बहुत ग़रीब है।

● और सम्राट जहाँगीर की वह अमर पंक्ति— अगर फ़िरदौस बररूए ज़मी अस्त, हमीं अस्तो, हमीं अस्तो, हमीं अस्त।—याने अगर धरती पर स्वर्ग कहीं है तो यहीं है, यहीं है, यहीं है।

● और फिर जैसे सब कुछ गडमड हो जाता है और उसमें कश्मीर डूब जाता है।

आख़िर कश्मीर है क्या? वह भू-खण्ड जो स्वर्ग-सा सुन्दर है और जहाँ के लोग चन्द सिक्कों के एवज़ अपनी इज़्ज़त बेचते हैं?

और फिर सुना कि कश्मीर के लोग वैसी कहानियाँ लिखने वालों को गाली देते हैं और बाहर से कश्मीर आने वाले लेखकों से सरोष कहते हैं कि जाइए, हमारे गाँवों में जाकर देखिए कि क्या आपको ऐसे ही लड़कियाँ मिल जाती हैं? कश्मीर के लोगों का कहना है कि उन कहानियों में कश्मीर नहीं है। उन कहानियों में लेखकों की

अपनी ही विकृतियाँ हैं। ऐसे लेखकों को मालूम ही नहीं कि कश्मीर क्या है? वहाँ के लोग और उनकी ज़िन्दगी क्या है? ये कहानियाँ कश्मीर के नाम पर धब्बा हैं। वह कहानी क्या, जिसमें जीवन का सत न हो। सैलानी लेखकों के बस की यह बात नहीं कि वे कश्मीर के जीवन का सत ग्रहण कर, उसे कहानियों में चित्रित कर सकें। कहीं के भी लोगों को देखना, उन्हें समझना, उनकी ज़िन्दगी की जाँच करना, वहाँ के जीवन के सत को, सार को ग्रहण करना कोई साधारण काम नहीं। प्राकृतिक दृश्यों की तरह लोग जड़ नहीं हुआ करते कि आँख उठाकर देख लो और समझ लो कि देख लिया। लोगों को देखना हो तो उन्हें उनके जीवन-संघर्ष में देखो।

कश्मीर के बाहर के लेखकों में अश्क पहले कथाकार हैं, जिन्होंने कश्मीर को निकट से देखने और समझने का प्रयत्न किया है और उसे यथार्थ रूप में, यथार्थ की दृष्टि से चित्रित किया है।

'पत्थर-अलपत्थर' से पहले अश्क ने कश्मीर पर कई कहानियाँ लिखीं—'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल,' 'मेमने' और 'दालिये' ऐसी ही यथार्थवादी कहानियाँ हैं।......कश्मीर का अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य, वहाँ के लोगों की घोर ग़रीबी और जीवन-संघर्ष और अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने वाले युवकों के साथ भ्रमणार्थियों के जो खाके अश्क ने इन कहानियों में खींचे हैं, उनसे केवल कश्मीर ही का सजीव चित्र हमारे सामने नहीं आता, बल्कि वह दृष्टि भी समझ में आती है, जिससे भ्रमणार्थी कश्मीर को देखते हैं— और जिस दृष्टि से पहले लेखक कश्मीर-सम्बन्धी कहानियाँ लिखते रहे हैं।

'कहानी-लेखिका और जेहलम के सात पुल' के बाद (जिस संग्रह में कि अश्क की ये कश्मीर-सम्बन्धी कहानियाँ संकलित हैं) अश्क ने कश्मीर ही की पृष्ठभूमि पर अपना यह पाँचवाँ उपन्यास पत्थर-अल-

पत्थर' लिखा है।

अश्क का यह नया उपन्यास—उनके सभी पहले उपन्यासों से भिन्न है। अश्क ने अपने इस लघु-उपन्यास में पहली बार निम्न-मध्यवर्ग के नहीं, निम्नवर्ग के एक पात्र को लिया है। 'पत्थर-अलपत्थर' कश्मीर के एक घोड़वान हसनदीन की दर्द-भरी कहानी है। टंगमर्ग से लेकर अलपत्थर की जमी हुई झील तक के पथ की पृष्ठभूमि में अश्क ने घोड़वान हसनदीन को चित्रित किया है। 'पत्थर-अलपत्थर' देश-विभाजन के बाद कश्मीर पर पाकिस्तानियों के आक्रमण के कारण आयी तबाहियों के मारे और अपने रोज़गार की आज की मंदी के शिकार, घोड़वान हसनदीन का दर्द-भरा चित्र उपस्थित करता है।

अश्क ने टंगमर्ग से अलपत्थर तक के पथ में यह कहानी इतनी कुशलता से बुनी है कि हसनदीन की ज़िन्दगी की सारी ट्रेजिडी साकार होकर हमारे सामने खड़ी हो जाती है।

सच पूछा जाय तो हसनदीन के चित्रण के लिए (और हसनदीन कश्मीर के घोड़वानों का प्रतिनिधि पात्र है) इस पृष्ठभूमि से बढ़कर दूसरा कोई वातावरण हो ही नहीं सकता। हसनदीन को घर में या खेत में सही माने में नहीं देखा जा सकता। उसका कार्य-क्षेत्र तो यह पथ है, जिस पर घोड़ा चलाते-चलाते, उसके पीछे चलते-चलते, सवारों को खुश करते-करते उसकी आज तक की ज़िन्दगी बीती है। इस पथ के चप्पे-चप्पे को वह जानता है, उसकी चढ़ाई-उतराई से वह पूर्णरूप से परिचित है! इस पथ के भ्रमणार्थियों का वह जानकार है, उनकी रग-रग से वह वाक़िफ़ है। इस पथ के सभी कार्यों में उसे दक्षता प्राप्त है। इस पथ ही की कमाई उसने आज तक खायी है। यही उसका कार्य-क्षेत्र है, संघर्ष-क्षेत्र है। हसनदीन को ऐक्शन में यहीं देखा जा सकता है। अश्क ने यह ठीक ही किया, जो हसनदीन की

इस कहानी को यह पृष्ठभूमि दी है। इस तथ्य को भूलकर जो लोग यह लघु-उपन्यास पढ़ेंगे, उन्हें यह किसी यात्रा-वर्णन (ट्रेवेलाग) की तरह लगेगा और वे कभी उपन्यास के अन्तर में प्रवेश नहीं कर सकेंगे, क्योंकि यह अव्वल-आखिर उपन्यास है और यात्रा-वर्णन इस उपन्यास की पृष्ठभूमि है— वह कैनवस, जिस पर उपन्यास के मुख्य-पात्र हसनदीन का चरित्र चित्रित है।

इसी तथ्य से 'गुलमर्ग,' 'खिलनमर्ग,' तथा 'फ़रोज़न लेक' को देखने के लिए जाने वाले यात्री खन्ना साहब, उनकी बीवी, बच्चा, उप्पल साहब, उनकी भतीजी तथा दूसरे सहयात्री भी सम्बद्ध हैं। वे भी उस पथ के जीवन के अंग हैं, जिनके बिना पथ निर्जीव लगता और हसनदीन बेकार। उपन्यास को ध्यान से पढ़ने पर मालूम होता है कि इनमें मुखर ही नहीं, मूक पात्रों (जैसे ममदू और ईदू, घोड़े और पथ) का भी अपना-अपना अलग अस्तित्व और महत्व है। पहली दृष्टि में लगता है कि इस क़ाफ़िले में तो हसनदीन उसी तरह है, जैसा बारात में कोई नाई। फिर क्या बात है कि पूरे उपन्यास में हमारी दृष्टि सदैव हसनदीन पर ही लगी रहती है, कभी भटककर किसी दूसरे की ओर जाती भी है तो तुरन्त तड़प कर पीछे हसनदीन के पास लौट आती है? क्या कारण है कि अफ़राबट से स्लेजों पर उतरते हुए खन्ना साहब वग़ैरा के साथ हम नहीं फिसलते, बल्कि उनके पीछे बरसाती बिछाकर, उस पर बैठे, बर्फ़ में पाँव धँसाये और छड़ी को बैलेंसिंग-राड की तरह हाथों में थामे, थकावट से चूर हसनदीन के साथ हम अपने दिल में दर्द और प्राणों में मोह और आँखों में आँसू लिये बिछलते हैं? और फिर पूरे क़ाफ़िले को छोड़कर क्यों कैमरे का स्टेण्ड खोजने बर्फ़ के पहाड़ पर चढ़ते, टूटे हुए हसनदीन को देखकर हम मर्माहत हो उठते हैं?

इन प्रश्नों के उत्तर में ही इस उपन्यास की कला और अश्क की

सफलता का रहस्य है।

यह उपन्यास कला और वस्तु दोनों के लिहाज़ से उनके सभी पहले उपन्यासों से भिन्न है। अश्क का प्रमुख क्षेत्र, जैसा कि मैंने पहले कहा, अब तक निम्न-मध्यवर्ग रहा है।...लेकिन 'पत्थर-अलपत्थर' की आवाज़ निम्न-मध्यवर्ग की आवाज़ नहीं है। अश्क ने पहली बार इस उपन्यास में निम्न-वर्ग के जीवन को छुआ है। निम्न-वर्ग के एक प्रतिनिधि पात्र का चरित्र-चित्रण उपस्थित किया है।

यों इस उपन्यास में भी निम्न-मध्यवर्ग के कई महत्वपूर्ण पात्र—खन्ना साहब, उनकी बीवी, हरनाम सिंह, उप्पल साहब, ऊषा और जीवानन्द हैं। लेखक ने उनका पर्याप्त चित्रण भी किया है। फिर भी अकेला हसनदीन उन सब पर भारी पड़ता है। अकिंचन होते हुए भी पूरे उपन्यास पर वह छाया हुआ है। हसनदीन का स्वर ही 'पत्थर-अलपत्थर' का स्वर है।

'बड़ी-बड़ी आँखें' के बारे में लेखक को अपने एक पत्र में श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने लिखा था कि यह सौ प्रतिशत संस्मरण है और सौ प्रतिशत उपन्यास। हो सकता है कि 'पत्थर-अलपत्थर' को पढ़कर कोई यह कहे कि यह सौ फ़ीसदी ट्रेवेलाग (यात्रा-वर्णन) है और सौ फ़ीसदी उपन्यास। मेरा अपना खयाल है कि ये दोनों उपन्यास, उपन्यास ही हैं, संस्मरण अथवा यात्रा-वर्णन नहीं। 'बड़ी-बड़ी आँखें' अश्क ने प्रथम पुरुष में लिखा है, और चूँकि अश्क की अनुभूतियाँ गहरी हैं और जिस जीवन के बारे में वे लिखते हैं, उसका सीधा अनुभव प्राप्त करके ही लिखते हैं, इसलिए 'बड़ी-बड़ी आँखें' एकदम संस्मरण-सा लगता है। अश्क अपनी अनुभूतियों पर संस्मरण लिखते तो वह कुछ और चाहे होता, पर 'बड़ी-बड़ी आँखें' नहीं होता।

इसी तरह 'अलपत्थर' की यात्रा का वर्णन यदि अश्क किसी ट्रेवेलाग में करते तो वह ट्रेवेलाग ही होता, उपन्यास नहीं। अब हो

सकता है अश्क ने परेज़पुर गाँव टंगमर्ग के निकट देखा हो, लेकिन हसनदीन से वे अमरनाथ की यात्रा में मिले हों और कैमरे की अथवा ऐसी ही कोई घटना सोनामर्ग के रास्ते में हुई हो और उन्होंने वे सब अनुभूतियाँ 'फ़रोज़न लेक' के उस मार्ग में सँजो दी हों। उपन्यास की अपनी माँग है और संस्मरण तथा यात्रा-वर्णन की अपनी-अपनी, और अश्क दोनों कलाओं को बख़ूबी समझते हैं। उनका संस्मरण 'मंटो : मेरा दुश्मन' और यात्रा-वर्णन 'वेपा के नगर में' इसके साक्षी हैं।

हास्य और व्यंग्य के अश्क उस्ताद हैं। उनके दूसरे उपन्यासों में भी ये तत्व पर्याप्त मात्रा में हैं। बल्कि यह कहना भी ग़लत न होगा कि उनके उपन्यासों में इनका एक महत्वपूर्ण स्थान है। बिना हास्य-व्यंग्य के अश्क अधूरे हैं। अश्क का व्यंग्य कोई मामूली, बौद्धिक अथवा खरोंच पैदा करने वाला व्यंग्य नहीं होता, वह बिलकुल नंगा कर देता है (मध्यवर्ग की मोटी चमड़ी के लिए यह आवश्यक भी है) वही हाल उनके हास्य का भी है। खन्ना साहब की खिल्ली उड़ाकर हसनदीन का खाका खींचना, याने खन्ना साहब के निमित्त पाठकों को हँसा कर, हसनदीन के निमित्त रुला देना, उनके हृदय को मथ देना, कोई साधारण कला नहीं। खन्ना साहब जैसे भ्रमणार्थियों का टुच्चापन, अफ़राबट की चोटी पर जीवानन्द और ऊषा की एक झलक दिखाकर, अश्क पाठकों ही को नहीं, खुद खन्ना साहब को भी महसूस करा देते हैं। फिर उपन्यास में यह देखने की चीज़ है कि बार-बार अपने नंगेपन को ढकने का प्रयास करने वाले खन्ना साहब, निरन्तर नंगे होते चले जाते हैं और हर तरह सवार को खुश करने का प्रयास करने वाला हसनदीन, अपने नंगेपन के बावजूद पाठक की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है।

अश्क की कला का पुराना गुण (जिसे उनके कुछ आलोचक

दोष बताते हैं) यह है कि वे अपनी ओर से हल नहीं बताते, विद्रोह का झण्डा नहीं गड़वाते, नारे नहीं लगवाते, बड़े कौशल से वे हमारे समाज की कुरीतियों को खोलकर हमारे सामने रख देते हैं। समाज के दुखी, निरीह, सतत सताये जाते पात्रों को उनकी बेबसी और निरीहता के साथ हमारी आँखों के सामने उभार देते हैं और हमारे मन में एक अदम्य इच्छा भर देते हैं, हम चाहते हैं कि हम फूत्कार कर उठें और इस विषमता को जलाकर राख कर दें। 'गिरती दीवारें' की 'चेतन की माँ,' 'यादराम,' 'मन्नी' और स्वयं 'चेतन'; 'गर्म राख' की 'सत्या जी'; 'बड़ी-बड़ी आँखें' की 'वाणी' और 'नबी' —सब ऐसे ही पात्र हैं। हसनदीन अपनी तमाम निरीहता और दयनीयता के साथ इन पात्रों में एक और महत्वपूर्ण पात्र की वृद्धि करता है। अश्क ने उसका नख-शिख ऐसे ही गढ़ा है, जैसे चेतन की माँ का, और उतनी ही सहानुभूति उसे प्रदान की है। उपन्यास खत्म होने पर हमें ऐसा लगता है, जैसे हसनदीन के गाल पर नहीं, हमारे गाल पर ही थप्पड़ पड़ा है। हसनदीन के लिए हमारा मन रोता है और उस व्यवस्था के प्रति हमारे हृदय में विद्रोह उभरता है, जिसने हसनदीन के गाल पर थप्पड़ मारा है। यही आँसू और आग 'पत्थर-अलपत्थर' हमारे पास पवित्र थाती के रूप में छोड़ता है।

अश्क ने बड़े-बड़े उपन्यास लिखे हैं और कदाचित् और भी बृहत उपन्यास वे लिखें, पर मुझे पूरा विश्वास है कि 'पत्थर-अलपत्थर' अपनी लघुता के बावजूद गुरुता का आभास देगा और अश्क-साहित्य ही में नहीं, हिन्दी-साहित्य में एक नया और महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ेगा।

एक प्रतीकात्मक उपन्यास

डॉ० विजयशंकर मल्ल

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का नया लघु-उपन्यास 'पत्थर-अलपत्थर' एक दिलचस्प और मार्मिक उपन्यास है। इसकी कथा में कोई अनूठापन या वैचित्र्य नहीं है, परिप्रेक्ष्य भी नया नहीं है, लेकिन बाह्य वास्तविकता को भाव-वस्तु के साथ इस तरह समंजस लय में प्रस्तुत किया गया है कि रचना एक नयी आभा से मंडित हो गयी है। कथा का स्वारस्य पूरी रचना में बराबर बना हुआ है। अनेक नये प्रयोगों में अक्सर उपन्यास का कथानक बिखर जाता है, उसका सूत्र टूट-फूट जाता है, उसका प्रवाह आच्छादित रूप में बढ़ने लगता है—'पत्थर-अलपत्थर' में यह बात नहीं मिलती।

केवल भाव-वस्तु की दृष्टि से देखें तो यह कथा बहुत-कुछ 'अश्क' की कहानी 'डाची' की याद दिला देती है। 'डाची' कहानी का बाकर, अलपत्थर के हसनदीन का बहुत-कुछ समानान्तर पात्र है। यद्यपि अपने जटिलतर परिवेश के सम्बन्धों में हसनदीन की कहानी,

अर्थ की बृहत्तर परिधि बनाती है और अन्तिम परिणति तक पहुँचते-पहुँचते उसकी प्रतीकात्मकता अधिक कौंध जाती है।

अभावग्रस्त हसनदीन की मनोवृत्तियों के प्रकाश में कथा की भूमिका तैयार होती है और उसके कार्य-व्यापार के साथ उसे गति मिलती है। उसकी ग़रीबी और निरीहता पर यात्री खबा साहब की हर चोट, उसके व्यक्तित्व का कोई नया संवेदनशील पहलू उपस्थित करती और सामाजिक शोषण-प्रक्रिया को प्रत्यक्ष करती है। हसनदीन के चरित्र की एक बड़ी विशेषता यह है कि ग़रीबी में पिसा हुआ आहत मज़दूर होने पर भी, जीवन में उसकी आस्था अकंपित रूप से बनी रहती है। उसका चरित्र दो स्तरों पर प्रकट हुआ है— सामाजिक और मानसिक। इस प्रकार हसनदीन 'गोदान' के एपिक 'हीरो' होरी के बाद, अपने जन्म की सार्थकता साफ़ प्रकट कर देता है। (मैं केवल भावगत प्रगति का निर्देश करने के लिए ही होरी का नाम ले रहा हूँ, और किसी बात में इन दोनों की तुलना ग़लत होगी) होरी गाय रखने की अपूर्ण इच्छा मन में लिये हुए चल बसता है, पर हसनदीन अपने बच्चे की शिक्षा आदि और पत्नी को सुखी बनाने की कामना मन में सँजोये हुए, सिर्फ़ जेल में बन्द है। पाठक सोचता है— हसनदीन छूटेगा, अपने परिवार से मिलेगा, उसका मूक संघर्ष फलवान होगा, बहुत सम्भव है बदलती परिस्थितियों में उसकी कल्पनाएँ साकार हों। सम्भावना मात्र—यही यथार्थ के अनुकूल है, संवेद्य है, विश्वसनीय है। इसके आगे, तथाकथित प्रगतिवादी प्रचार मात्र होता।

हसनदीन के दिवास्वप्नों के माध्यम से सूक्ष्म-से-सूक्ष्म व्यंग्य और विडम्बना (Irony of fate) दिखलाने में अश्क की कला चमक उठी है।

दायरा सीमित होने के कारण लघु-उपन्यास में अन्य पात्रों का चरित्र, कतिपय, सूक्ष्म और सांकेतिक रेखाओं में ही बाँधा जाता है।

अश्क ने खन्ना साहब और उनकी पत्नी आदि को केरीकेचर के रूप में प्रस्तुत किया है। ऐसा करने से थोड़े में, तीखे Contrast से, हसनदीन का चरित्र साफ़ और संवेद्य हो गया है।

वातावरण-निर्माण इस उपन्यास की एक अन्य विशेषता है। कश्मीर की घाटी के सुरम्य स्थानों—गुलमर्ग, टंगमर्ग आदि की प्राकृतिक शोभा और स्थानीय रंग को लेखक ने थोड़े में खूब उरेहा है। अश्क की वर्णन-क्षमता असंदिग्ध है। उनकी क़लम में पाठक को वर्ण्य के बीच में रख देने की योग्यता है। यों कोई चाहे तो इस बात की शिकायत ज़रूर कर सकता है कि इसमें कहीं-कहीं प्रकृति अनावश्यक रूप से Sensual होकर विकृत हो गयी है।

'पत्थर-अलपत्थर' की, जैसे किसी अच्छे उपन्यास की, एक बड़ी खासियत यह है कि इसमें वर्णित कार्य और चरित्र सिर्फ़ अपने-आप में रोचक नहीं हैं, बल्कि उनका असली महत्व इस बात में है कि वे अपने से बड़े कार्य अथवा चरित्र के उपलक्षण या प्रतीक भी बन गये हैं। यों उपन्यास का 'पत्थर-अलपत्थर, नाम भी कम प्रतीकात्मक नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि अश्क का यह नया उपन्यास पाठकों को रोचक और संवेद्य प्रतीत होगा।

एक कश्मीरी श्रमिक की जीवन-गाथा

डा० ब्रजमोहन गुप्त

'पत्थर-अलपत्थर' अश्क का पाँचवाँ उपन्यास है। कश्मीर के सौन्दर्य और वहाँ के जीवन को अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखने का अवसर अश्क को मिला है। कश्मीर में तीन बातों ने विशेष रूप से उनका ध्यान आकर्षित किया—स्वर्गीय प्राकृतिक सौन्दर्य, उस सौन्दर्य से घिरी ग़रीबी तथा पेट भरने के लिए संघर्ष और कश्मीर की स्वास्थ्यप्रद जलवायु और सौन्दर्य-सुषमा का आनन्द लूटने के लिए जाने वाले यात्री, जिनमें से अधिकांश के हृदय में कश्मीर की ग़रीब, संघर्ष-रत जनता के प्रति ज़रा-सी भी संवेदना और सहानुभूति नहीं होती, जो अपनी संकीर्णता और स्वार्थपरता से ज़रा-सा भी ऊपर नहीं उठ पाते और कम-से-कम खर्च में अधिक-से-अधिक आनन्द लूटने की धुन में ही बराबर रहते हैं।

यों तो ऊपरी दृष्टि से देखने पर 'पत्थर-अलपत्थर' यात्रा-वर्णन-सा

प्रतीत होता है, क्योंकि यात्रा-वर्णन की शैली में लिखा गया है; किन्तु वास्तव में इसके द्वारा एक कश्मीरी श्रमिक हसनदीन की पूरी जीवन-गाथा, उसके स्वप्न और उसकी आकांक्षाएँ, उसकी समस्याएँ, उसकी आस्था तथा विश्वास और इन सब के बीच में उसकी दयनीय स्थिति का परिचय हमें मिलता है। अगर यह यात्रा-वर्णन होता तो यह सब उसमें गौण होता और प्रधानता स्वभावतः प्राकृतिक सौन्दर्य-चित्रण को मिलती। अपने वर्त्तमान रूप में 'पत्थर-अलपत्थर' का केन्द्र-बिन्दु भी हसनदीन है और उसकी परिधि भी हसनदीन ही है। हसनदीन तथा उसकी समस्याएँ लेखक के संवेदनशील हृदय पर कुछ ऐसी छा गयी हैं कि एक कश्मीर सम्बन्धी उपन्यास में प्राकृतिक सौन्दर्य-चित्रण के जिस बाहुल्य की आशा कुछ पाठक अपने इस कवि उपन्यास-कार से कर सकते हैं, वह इसमें नहीं है। उपन्यास में आद्योपान्त प्रधानता मानवीय तत्वों ही की है।

घोड़े के पीछे चलते हसनदीन के अपने गत और अनागत जीवन के दिवा-स्वप्नों में हमें उसके बीते जीवन तथा उसकी आशाओं और आकांक्षाओं की झलक मिलती है। हर क़दम पर कश्मीरी निम्नवर्ग के प्रतिनिधि हसनदीन के साथ पाठकों की सहानुभूति और संवेदना बढ़ती जाती है और सफ़ेदपोश खन्ना साहब का ओछापन उभरता जाता है। और अन्तिम घटना—जब कैमरे का स्टैंड खो देने के आरोप में हरनाम सिंह और उसके अन्य साथी सिपाही, हसनदीन के पाँच-सात थप्पड़ और लात-घूँसे जमाकर उसे हवालात में भेज देते हैं और खन्ना साहब द्वारा दिये गये सत्तरह रुपये आपस में बाँट लेते हैं और हसनदीन की बीवी को बुलाकर समझाते हैं कि वह कहीं से पचास रुपये पैदा करे तो हसनदीन छूट सकता है, क्योंकि सरकार पैसेंजरों को तकलीफ़ देगी तो पैसेंजर आयेंगे नहीं और घाटी के लोग भूखों मरेंगे, स्टैंड तो उन्हें खरीदकर देना ही पड़ेगा—हसनदीन की ट्रेजिडी

को तो मुकम्मल कर ही देती है, हरनाम सिंह और उनके साथियों की यह पत्थर-दिली और कमीनापन, खन्ना साहब के उस ओछेपन को हल्का भी कर देते हैं, जिसके चित्रण के लिए लेखक ने पूरे उपन्यास में एक-एक रेखा सतर्कतापूर्वक बड़ी कुशलता से खींची है। लेखक ने ऐसा होने दिया, इसका कारण यही है कि उसका प्रधान लक्ष्य हसनदीन की ट्रेजिडी प्रस्तुत करना ही है। अन्य पात्र तो लक्ष्य की प्राप्ति के साधन मात्र हैं।

'पत्थर-अलपत्थर' के सभी पात्र बड़े सजीव और स्वाभाविक हैं। वे कहीं भी ऐसा आभास नहीं देते कि किसी पूर्व-निश्चित सिद्धान्त या दृष्टिकोण के प्रतिपादन के लिए कृत्रिम रूप से गढ़कर बनाये गये हैं। ऐसा लगता है, जैसे इन पात्रों से लेखक अपनी किसी-न-किसी यात्रा में कहीं-न-कहीं मिला हो और अपनी इस कलाकृति में उनका उपयोग करने के लिए उसने केवल जहाँ-तहाँ हल्का-सा कल्पना का रंग दे दिया हो।

व्यंग्य और हास्य अश्क की शैली की महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं, जिनका परिचय उनकी प्रस्तुत रचना में भी मिलता है। व्यंग्य इतना गहरा है कि वह सम्पूर्ण रचना की पृष्ठभूमि में अभिव्यंजित है। वर्तमान स्थिति कितनी अवांछनीय और करुण है, इस पर तीव्र प्रकाश डालकर लेखक उसके प्रति पाठकों के मन में गहरा असन्तोष उत्पन्न कर देता है।

अश्क जी की भाषा भी उनकी अपनी विशेषता है। उन्होंने लिखना उर्दू में प्रारम्भ किया और बाद में हिन्दी में लिखने लगे, बदलती परिस्थितियों के साथ हिन्दी से उनका लगाव बढ़ता गया और फिर वही उनके लेखन-कार्य का प्रधान अंग बन गयी। हिन्दी-उर्दू शब्दों का प्रयोग वे खुले मन से करते हैं, उनके पंजाबी लहजे की झलक भी जहाँ-तहाँ देखने को मिल जाती है। लेकिन इस सब के

फलस्वरूप उनकी भाषा में ऊबड़-खाबड़पन नहीं आया। वह सरल, प्रवाहयुक्त और अभिव्यंजना-शक्ति से परिपूर्ण है।

'पत्थर-अलपत्थर' के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है: लेखक ने इसे लघु-उपन्यास कहा है। क्या उपन्यास और कहानी में लम्बाई के अतिरिक्त शिल्प-सम्बन्धी और कोई अंतर नहीं होता? क्या प्रत्येक कहानी को एक सीमा से अधिक लम्बी हो जाने पर लघु-उपन्यास कहा जा सकता है? मेरे विचार से शिल्प की दृष्टि से उपन्यास और कहानी भिन्न प्रकार की रचनाएँ होती हैं। 'पत्थर-अलपत्थर' सूर्योदय के साथ प्रारम्भ होता है और अगले दिन सायंकाल समाप्त हो जाता है। हसनदीन के पिछले जीवन का परिचय हमें, घोड़े के पीछे-पीछे चलते समय देखे गये उसके दिवा-स्वप्नों से मिलता है। लेखक ने इस रचना को अलग-अलग परिच्छेदों में विभाजित नहीं किया है, वातावरण क्रमशः घनीभूत हो जाता है और क्लाइमेक्स के साथ रचना समाप्त हो जाती है। इस प्रकार शिल्प की दृष्टि से 'पत्थर-अलपत्थर' लघु-उपन्यास की अपेक्षा एक लम्बी कहानी ही अधिक है। यहाँ मुझे भूमिका में अभिव्यक्त लेखक के इन विचारों का ध्यान आता है, 'अपने पाठकों से मेरा केवल इतना निवेदन है कि उपन्यास, संस्मरण अथवा यात्रा-वर्णन—ये सब साहित्य ही के अन्तर्गत आते हैं। प्रस्तुत उपन्यास को वे एक साहित्यिक कृति के नाते ही पढ़ें और जिस उद्देश्य से यह लिखा गया है, यदि वे उसके मर्म को पा लें तो यह उपन्यास हो तो, ट्रैवेलाग हो तो, कोई अंतर नहीं पड़ता।

यहाँ मैं इतना और जोड़ना चाहूँगा कि लघु-उपन्यास के स्थान पर इसे लम्बी कहानी कहने से भी इसके एक अच्छी कला-कृति होने में कोई अंतर नहीं पड़ता।

निम्नवर्ग के व्यक्ति का यथार्थ चित्रण

●

हनुमान वर्मा

'पत्थर-अलपत्थर' अश्क का लघु-उपन्यास है, जिसकी कथा-वस्तु कश्मीर के निम्नवर्ग के व्यक्ति के जीवन-संघर्ष से ली गयी है। कई वर्षों से हिन्दी और उर्दू में कश्मीरी जीवन पर कहानी-उपन्यास लिखने का फ़ैशन प्रचलित हो गया है। कश्मीर सौंदर्यस्थली है—अनुपम प्राकृतिक और मानवी सौंदर्य वहाँ मिलता है, पर इसके साथ ही वहाँ घोर दारिद्रय है। पर्यटकों तथा लेखकों ने वहाँ की प्रकृति और मानव दोनों को वर्षों तक अपना उपभोग्य समझा। हर युग की एक 'मिथ' हो जाती है। विशेषकर कश्मीर और साधारणतः सब पहाड़ी इलाकों के बारे में यह 'मिथ' खूब प्रचलित रही कि वहाँ की सुन्दरियाँ पर्यटकों के भोग के लिए हमेशा तैयार मिलती हैं। इस 'मिथ' के कारण कितनी ही कहानियाँ और कविताएँ (कांगड़े की छोरियाँ—अज्ञेय) लिखी गयी हैं, जिन्हें कोई पढ़े तो उसे वहाँ के निवासियों के बारे में केवल एक बात मालूम हो सकती है—कि वे पर्यटकों

के सामने अपनी सुन्दर बेटियों को पान-सुपारी की तरह पेश कर देते हैं।

इन सैकड़ों महज़ रोमानी कहानियों से बिलकुल भिन्न, कश्मीरी मनुष्य के यथार्थ जीवन-संघर्ष पर आधारित—'पत्थर-अलपत्थर' की कहानी है। कश्मीर के बारे में अश्क से ऐसी ही कथा की, ऐसी ही दृष्टि की उम्मीद थी, क्योंकि वे उस स्टेज पर पहुँच गये हैं, जब दृष्टि रोमानी, चमक-दमक को बेधकर आंतरिक जीवन-सत्य को देखती है।

'पत्थर-अलपत्थर' में एक कश्मीरी घोड़वान हसनदीन की एक दिन की चर्या है। हसनदीन पर्यटकों को घोड़ों पर बैठाकर सौंदर्यस्थली दिखाने का काम करता है। हड्डी-तोड़ परिश्रम से चूर-चूर वह सरल, निष्कपट आदमी खन्ना साहब को दिन भर भ्रमण कराता है, शाम तक उसे बुखार आ जाता है, फिर भी वह उन्हें गंतव्य स्थान पर पहुँचाता है और अंत में खन्ना साहब और उनकी पत्नी उस पर कैमरा-स्टैंड की चोरी का झूठा इलज़ाम लगाकर, उसके पैसे हड़प जाते हैं। ४० रुपये की मेहनत के जो १० रुपये वे दे जाते हैं, वे पुलिसवालों में बँट जाते हैं और चोरी के झूठे आरोप में गिरफ़्तार हसनदीन की पत्नी से कहा जाता है कि वह ५० रुपये लाये तो हसनदीन छूट सकता है।

कहानी की तरह उपन्यास में भी चरित्रों के विकास का अवसर नहीं होता, बल्कि उनका उद्घाटन होता है। अश्क ने इस छोटे से परिवेश में, उप्पल साहब और खन्ना के 'कंट्रास्ट' द्वारा उच्च मध्यवर्ग के ही दो टाइपों के चरित्रों को खूब उद्घाटित किया है। उप्पल, जो सहज उदार, निरभिमानी और सरल व्यक्ति हैं और खन्ना, जो सम्पन्नता और उदारता का ढोंग रचते हैं, पर वास्तव में बहुत क्षुद्र, नीच और अनुदार प्रकृति के व्यक्ति हैं। मध्यवर्ग के खोखलेपन को उघाड़कर रख देने में अश्क को कमाल हासिल है। उनकी इस क्षमता के उदाहरण खन्ना साहब हैं।

इन सब पर हसनदीन के जीवन की करुणा छायी रहती है, जो अन्त में मन को आप्लावित कर देती है। पृष्ठभूमि में अत्यन्त सूक्ष्म संगीत-तरंग भी उठती रहती है—ऊषा और अफ्रीका-निवासी भारतीय तरुणाई का रोमांस।

इस छोटी-सी कथा-कृति में आदि से अंत तक संवेदन का निर्वाह बड़ी कुशलता से हुआ है। हसनदीन के द्वारा 'अश्क' कश्मीरी मज़दूरों के जीवन-संघर्ष को, उनकी ग़रीबी और मज़दूरी को, उनके जी-तोड़ परिश्रम को, उनके अत्यन्त घृणित शोषण को चित्रित करना चाहते हैं। हसनदीन की इस दिनचर्या में ये सभी तथ्य प्रभावकारी रूप से प्रकट होते हैं। जो लोग कहानीकारों की कृपा से कश्मीर को केवल विलास और रोमांस-क्षेत्र मानते आये हैं, वे हसनदीन के जीवन की कटुता से अवश्य अभिभूत होंगे और कश्मीरी जीवन का एक नया पहलू उनके सामने खुलेगा।

●

कुछ टिप्पणियाँ

सितारों के खेल
बाबू गुलाब राय
उषा देवी मित्रा

●

गिरती दीवारें
नन्ददुलारे वाजपेयी
डॉ० बच्चन सिंह

●

गर्म राख
प्रकाशचन्द्र गुप्त
नेमिचन्द्र जैन

●

बड़ी-बड़ी आँखें
सुमित्रानन्दन पन्त
राजीव सक्सेना
भैरवप्रसाद गुप्त
डॉ० प्रतापनारायण टण्डन

●

पत्थर-अलपत्थर
गीता बंद्योपाध्याय

सितारों के खेल

●

'सितारों के खेल' का उद्देश्य यह है कि स्वतंत्र प्रेम की अपेक्षा वैवाहिक जीवन अच्छा है। उसको हम लता के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं, 'खुला रह कर प्रेम भटक जाता है, आवारा रह कर सूख जाता है, बन्धन ही में वह सार्थक होता है, बँध कर ही वह पनपता है।' इस उपन्यास में स्वतंत्र प्रेम की निष्फलता अवश्य दिखायी गयी है, वैवाहिक प्रेम की सफलता नहीं! इसका प्रभाव अभावात्मक (Negative) अधिक है। हम भी बहुत अंश में लेखक के उद्देश्य से, जो पूर्णतया भारतीय है, सहमत हैं, किन्तु उपन्यास की घटनाएँ हमको तर्क की सीढ़ी से उस नतीजे पर नहीं पहुँचातीं। कला की दृष्टि से यह उपन्यास बहुत उत्कृष्ट है। इसमें कल्पना का अच्छा चमत्कार है। जहाँ उपन्यास का अंत होता दिखायी देता है, वहीं एक नया मार्ग खुल जाता है। कौतूहल बना रहता है। बंसी की मृत्यु और जीवन के बीच की अवस्था एक सुन्दर कल्पना है। उस अवस्था में लता का उसकी सेवा करना भारतीय रमणियों का गौरव बढ़ाता है, परन्तु उसके ज़हर देने में विदेशी मनोवृत्ति आ जाती है। अश्क जी के शब्द-चित्र

बड़े सुन्दर हैं, भाषा भी बड़ी सजीव है, यद्यपि उसमें कहीं-कहीं अंग्रेजी मुहावरा और पंजाबीपन आ गया है।

—बाबू गुलाबराय

●

हिन्दी के ख्यातनामा नाटक और कविता के रचयिता श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने उपन्यास लिखा है— सितारों के खेल। प्रसन्नता की बात तो यह है कि इस तरुण कलाकार की प्रतिभा कविता ही में आबद्ध न रहकर कहानी, एकांकी आदि में बहुमुखी होकर बह चली है और वह पूर्णत्व प्राप्त करने जा रही है उपन्यास के प्रांगण में!

'सितारों का खेल' खेल ही नहीं, खेल के बाद भी और कुछ है। जीवन का सत्य? कदाचित एक नग्न, किंतु व्यंग्यपूर्ण सत्य!

'सितारों के खेल' का चरित्र-चित्रण सफल है—उस नाते—जैसे कि कलाकार ने उन्हें आँकना चाहा। अस्थिर-चित्त की युवती—जिसने प्रेम को लेकर खेलना चाहा, वह हारी। लालसा ने, अस्थिरता ने, अंत को जीवित मनुष्य का रक्त चूस लिया और तब उस राक्षसी वृत्ति ने वह दिया, जिस पर कि आज इस भूर्णिपाक में पड़ कर भी भारत सत्ता को सँभारे, सँजोये टिका हुआ है—एक निरालेपन-से निजत्व को लिये हुए।

—उषादेवी मित्रा

●

गिरती दीवारें

●

अश्क आंशिक रूप में ज़ोला की जाति के यथार्थवादी हैं। यथातथ्यवाद में निष्ठित होने के कारण उनकी कृतियों में परिस्थिति (वातावरण और वंशानुक्रम) नियामक बनकर उपस्थित होती है और मनुष्य उसके द्वारा नियोजित पुतला बन जाता है। परिपार्श्व की शक्तियाँ उसे उत्तेजित करके अपने साथ दौड़ाती हैं, किन्तु उसमें ऐसा कोई प्रेरणा-केन्द्र नहीं है, जो स्वयं उसकी आकांक्षित और संकल्पित मानवनिष्ठ गति को स्फूर्त कर सके। इसकी अवश्यम्भावी और विलक्षण परिणति उनके सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गिरती दीवारें' में,दृष्टिगोचर होती है। इसमें परिपार्श्व के चित्रण में अश्क अपार परिश्रम करते हैं, एक-एक ईंट जमा करके एकान्त लगन से वे अपना कला-भवन निर्मित करते हैं, छोटी-से-छोटी वस्तु भी उपेक्षित नहीं रह पाती, और इन सब के साथ उनके नायक के जीवन की रूप-रेखा भी क्रमशः निर्मित होती जाती है। वह क्षण आता है, जब नायक का निर्माण अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेता है। इस पूर्णता के साथ वह अपने को एक ऐसी स्थिति में पाता है, जब उसका चेतन सम्पूर्ण है, और वह एक निर्णय लेने

की आवश्यकता के अभिमुख है। यदि संकल्पित निर्णय वह ले लेता है तो वह तत्काल विशुद्ध परिस्थिति से ऊपर एक आध्यात्मिक धरातल पर उठ सकता है। किन्तु यन्त्र आत्मा से युक्त नहीं होते। 'गिरती दीवारें' का नायक वह अनिवार्य निर्णय नहीं ले पाता, और 'गिरती दीवारें' का कला-भवन सिद्धि का द्वार देखकर, उसका स्पर्श किये बिना ही ढह जाता है। केवल यही नहीं कि वह निर्णय नहीं लेता, किन्तु सत्य तो यह है कि अश्क के जगत में जगने वाला मनुष्य निर्णय लेने में मूलतः अशक्त है। गम्भीरता अचानक हल्केपन में बदल जाती है और प्रयोजन की सम्भावना का प्रयोजनहीनता में अवसान हो जाता है। इसलिए अश्क का सामाजिक व्यंग्य शक्तिमान आघात न पहुँचाकर, मन्द हँसी भर पैदा करके रह जाता है।

—नन्ददुलारे बाजपेयी

●

'गिरती दीवारें' निम्न-मध्यवर्ग के उन अनेक परिवेशों का चित्र उपस्थित करता है, जिनकी रूढ़ियों, वैषम्य और शोषण के कारण इस वर्ग को अपने आदर्शों, आशा और आकांक्षाओं तथा सुनहले सपने को दफ़ना देना पड़ता है। वह अपनी लाचारी और विवशता में सिसकता हुआ सारी सामाजिक व्यवस्था को उच्छिन्न करने का संकेत करता है, यों ऊपर-ऊपर से देखने में उपन्यास की समस्या अनमेल विवाह से उत्पन्न समस्या है, किन्तु प्रकारान्तर से निम्न-मध्यवर्ग की अन्य समस्याओं को भी उसके साथ गूँथ दिया गया है। मध्यवर्गीय प्रवृत्ति के अनुसार चेतन अपने व्यक्तित्व को स्वयं में एक बड़ी चीज़ मानता है। उसके शिक्षा-सम्बन्धी संस्कारों ने उसे सिखाया है—'इधर-उधर खेतों में मुँह मारना, उगती-बढ़ती फ़सल को दूषित करना, पकड़े जाने पर दंड पाना, अपमानित होना, सभ्य समाज के अनुकूल नहीं है।'

किन्तु वास्तविक जीवन में वह ठीक इसके विपरीत आचरण करता हुआ दिखायी पड़ता है। उसका व्यक्तित्व, उसका आदर्श, पूँजीवादी व्यवस्था की एक हल्की ठोकर से ध्वस्त हो जाता है। काव्य और साहित्य के प्रति उसके आदर्शवादी दृष्टिकोण को भी पूँजीवादी व्यवस्था ने कहाँ पनपने दिया? समाचारपत्र और प्रकाशन सभी पर उनका निर्बाध स्वत्व है, इसके बीच अथवा इससे हटकर अलग राह बनाना इस वर्ग के लेखक के लिए असम्भवप्राय है। धूर्त रामदासों और समाचारपत्र के दफ़्तरों के बीच मध्यवर्गीय आदर्शवाद का पौधा नहीं लग सकता। आर्थिक परिस्थितियों में निरन्तर जूझता हुआ चेतन अपने आदर्शों की समाधि बना बैठता है। सब कुछ होते हुए भी चेतन की सेक्स-चेतना इतनी अधिक उभरी हुई दिखायी देती है कि वह एक मनोवैज्ञानिक 'केस' हो जाता है। फिर भी मध्यवर्गीय दीवारों को तोड़ डालने की एक ज़बरदस्त प्रेरणा इस उपन्यास से मिलती है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति और भी गिर गयी। इस महायुद्ध का सबसे अधिक भयानक प्रभाव इसी वर्ग पर पड़ा—विशेषरूप से मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग पर। पूँजीपतियों के लिए युद्ध वरदान के रूप में आता है—लूट-खसोट, शोषण और नफ़ाखोरी के लिए उन्हें खुला मैदान मिलता है। निम्नवर्ग के लिए भी यह अनुकूल ही पड़ता है। अपने श्रम के आधार पर इनकी आर्थिक स्थिति सामान्य स्तर से कुछ ऊँची उठ जाती है। किन्तु निम्न-मध्यवर्ग अपनी असहाय स्थिति में घुट-घुटकर मरता दिखायी पड़ता है। पूँजीपतियों की भाँति न तो वह लूट-खसोट कर पाता है और न श्रम को उत्पादन में ही निर्भ्रान्तिरूप से लय कर सकता है। उसकी सारी कोशिश, जी-तोड़ परिश्रम, सभी कुछ एक हार, लाचारी और घुटनपूर्ण समझौते में बदल जाते हैं। 'अश्क' के 'गिरती दीवारें' में एक इसी प्रकार के निम्न-मध्यवर्गीय व्यक्ति का चरित्र उपस्थित किया गया है।

—डॉ बच्चन सिंह

गर्म राख

●

'गर्म राख' में अश्क ने अपने सम्पूर्ण कला-शिल्प को कायम रखते हुए अधिक समृद्ध दृष्टि अपनायी है। इस उपन्यास में हम सामाजिक कुरीतियाँ और कुरूपताएँ तो उनकी समस्त विषमता और भीषणता में देखते ही हैं, अनेक उठते और उफनते हुए सामाजिक आन्दोलन और हलचलें भी देखते हैं, जो नये जन-जीवन की सृष्टि के लिए आतुर हैं। 'अश्क' केवल राख को ही नहीं देखते, वरन् उसके अन्दर छिपी जीवित चिनगारी को भी। 'गर्म राख' इस प्रकार जीवन के व्यापक और गतिवान स्वरूप का अधिक सच्चा और समर्थ चित्र है।

—प्रकाशचन्द्र गुप्त

●

'गिरती दीवारें' के बाद अश्क का यह (गर्म राख) पहला उपन्यास है, जिसमें महायुद्ध के ठीक पहले के लाहौर के मध्यवर्गीय जीवन का

चित्र देने का प्रयत्न किया गया है। 'गर्म राख' चूँकि एक बृहत् उपन्यास है, इसलिए उसमें विस्तार की कमी नहीं। कालेजों में पढ़ने-पढ़ाने वाले और प्रेम करने वाले लड़के-लड़कियाँ, अपने अधिकारों के लिए लड़ने वाला मज़दूर वर्ग, उसके नेता और उसके दुश्मन, साहित्यिक, कवि, बुद्धिजीवी, व्यवसायी आदि सभी प्रकार के पात्र इस लम्बे-चौड़े स्टेज पर आते-जाते हैं और किसी हद तक बड़े परिश्रम और यथा-सम्भव सचाई के साथ अश्क जी ने उसका रूप गढ़ा है। शिक्षित सफ़ेदपोश साहित्यिक समाज का ढोंग और पाखण्ड भी, और अपने अधिकारों के लिए लड़ने की कोशिश करने वाले मज़दूर वर्ग की तूफ़ान-जैसी तेज़ी भी...सभी की ओर लेखक ने बड़ी सावधानी के साथ ध्यान दिया है। हर पात्र को उसके समुचित सामाजिक-मानसिक परिवेश में रखने का भी यत्न किया गया है। इसीलिए कुछेक पात्र, विशेष-कर कुछ छोटे पात्र...जैसे दुर्गा, नूरा, कलुआ, शुक्ला जी, पण्डित दाताराम आदि...बड़ी स्पष्टता से उभरे हैं। मज़दूर-नेता हरीश का चित्रण हिन्दी-उपन्यासों में अपने ढंग का अकेला है। हिन्दी के शायद ही किसी दूसरे उपन्यासकार ने किसी मज़दूर-नेता को इतनी सहानुभूति और सतर्कता के साथ अंकित किया हो।

'गर्म राख' यथार्थवादी परम्परा का एक महत्वपूर्ण उपन्यास तो है ही, वह अश्क जी के विकास की भी एक नयी मंज़िल है।

—नेमिचन्द्र जैन

बड़ी-बड़ी आँखें

●

'सितारों के खेल,' 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' के बाद अश्क जी ने 'बड़ी-बड़ी आँखें में एक नवीन भावभूमि पर पदार्पण किया है, जिसका स्वच्छ वातावरण, जहाँ मन में अनेक समस्याएँ पैदा कर उसे एक ओर गम्भीर चिन्तन की ओर प्रेरित करता है, वहाँ दूसरी ओर हृदय को अज्ञात रूप से अपने अकलुष सौन्दर्य तथा प्रच्छन्न सहानुभूति से प्रभावित किये बिना नहीं रहता।

क्या कला, शिल्प तथा विचार-संयम की दृष्टि से, क्या रचना-सौष्ठव, चरित्र-चित्रण, अनुभूति तथा भाषा के निखार की दृष्टि से 'बड़ी-बड़ी आँखें' अश्क जी के उपन्यासों में निःसंदेह अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। मानव-स्वभाव के अनुशीलन में तथा यथार्थ के उद्घाटन में जहाँ अश्क जी को सूक्ष्म दृष्टि का वरदान मिला है, वहाँ प्रकृति-निरीक्षण तथा उसके रूप-वैचित्र्य के अंकन में भी उन्होंने प्रस्तुत उपन्यास में अद्भुत क्षमता का परिचय दिया है।

उपन्यास का संतुलित, स्वल्प कथानक, जीवन में आदर्श तथा

यथार्थ का संघर्ष दिखाता हुआ पाठकों के मन को आशा-नैराश्य, आनन्द-अवसाद, प्रेम-विद्वेष, विश्वास-विद्रोह तथा स्वभाव और परिस्थितियों की समानान्तर रेखाओं के मध्य से ले जाकर उसे मानव-भावना की नींव पर आधारित एक ऐसे देवनगर में विचरण कराता है, जहाँ स्वर्ग और नरक एक-दूसरे से आँख-मिचौनी खेलते-से प्रतीत होते हैं और व्यक्ति के खोखले स्वप्न सामूहिक परिस्थितियों की ठोस निर्मम किमाकार चट्टान से टकरा कर चूर-चूर हो जाते हैं।

मनुष्य अपनी ऊर्ध्व रीढ़ के स्वप्न को किस प्रकार आदर्श समाज के रूप में मूर्तिमान कर सकता है, उसका व्यावहारिक दृष्टिकोण क्या होना चाहिए तथा उसके विधायक प्रयत्न किस दिशा की ओर होने चाहिएँ— वैयक्तिक आदर्श की एकांगी भावना सामूहिक परिस्थितियों के वैषम्य के सामने किस प्रकार पराजित होकर रहती है, इत्यादि अपने विचारों का अत्यन्त सफल चित्रण, अश्क जी की बड़ी आँखों में, इस 'बड़ी-बड़ी आँखें' के रूप में अत्यन्त कलात्मक ढंग से प्रतिबिम्बित हुआ है।

निःसन्देह 'बड़ी-बड़ी आँखें' समझने के लिए पाठकों के पास मन की बड़ी-बड़ी आँखें होनी चाहिएँ। इस अत्यन्त मनोरम कृति के लिए —जिसे मैं गीति-उपन्यास कहूँगा— मैं अश्क जी को भूरि-भूरि बधाई देता हूँ।

—सुमित्रानन्दन पन्त

●

अश्क जी का उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' शैली, शिल्प और भाव-विन्यास की दृष्टि से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों की पंक्ति में स्थान बना लेगा। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने इसे 'गीति-उपन्यास' कहा है, सचमुच सार्थक है।

इतनी ही मनोरम इसकी कथावस्तु भी है। समाज के ढाँचे को ज्यों-का-त्यों बरक़रार रखकर, उसके बीच देवनगर-जैसी आदर्श बस्ती के निर्माण के लिए देवाजी के प्रयत्न, उनकी सारी सदिच्छाओं के बावजूद, ढह पड़ते हैं। देवाजी के अहंकार, अपने व्यक्ति को सर्वोपरि समझने की भावना, चाटुकारिता-प्रियता और अपनी पत्नी के अर्ध-सामन्ती विचारों से समझौता करने की प्रवृत्ति खुद उनके सपनों के शत्रु सिद्ध होते है। इस देवनगर में पूँजीवादी समाज की मान्यताएँ प्रेत की छाया की तरह चक्कर काटती हैं और स्वर्गिक आदर्शों को नरक बनाकर छोड़ती हैं। ऊँच-नीच, जात-पाँत और वैभव तथा अफ़सरशाही के सम्मान की भावनाएँ, यहाँ भी व्यक्तित्व के विकास का गला घोंट देती हैं और इसके खिलाफ़ विद्रोह को स्वयं देवाजी के व्यक्तित्व का विरोधी समझा जाता है। इस बस्ती में जनवाद का नाश होना सबसे बड़ी ट्रेजिडी बन जाता है।

इस ट्रेजिडी से अभिभूत इसके सभी निवासी हैं। कुछ इससे समझौता कर वही नारकीय जीवन बिता रहे हैं, जो एक बड़े पैमाने पर बाहर हो रहा है, जिसे हम भारतवर्ष कहते हैं। लेकिन इस उपन्यास के नायक संगीत की तरह कुछ लोग बग़ावत करते हैं, इस समाज से बाहर जाने के लिए विवश होते हैं। हर पात्र की वेदना पाठक के मन पर छा जाती है। लेकिन सबसे बड़ी ट्रेजिडी इसकी नायिका की, देवाजी की सोलह वर्षीय पुत्री वाणी की है, जो देवनगर के इस 'आदर्श समाज' में सामन्ती रूढ़ियों और पूँजीवादी मान्यताओं के दो पाटों के बीच पिस रही है। उपन्यासकार ने इसके चित्रण में काव्य-जैसी मधुरता और भावोद्वेग ढाल दिया है।

'बड़ी-बड़ी आँखें' अन्त में पाठकों के हृदय में एक टीस-सी छोड़ जाता है। लेकिन समझदार पाठक रोष से भी भर जायगा। सामंती रूढ़ियों और पूँजीवादी मान्यताओं को नष्ट किये बिना, उनके खिलाफ़

निर्मम रूप से संघर्ष किये बिना, समाजवादी ढंग का समाज बनाने के प्रयत्न उसी तरह विफल हो जायँगे, जैसे कि देवाजी का देवनगर !

—राजीव सक्सेना

●

'बड़ी-बड़ी आँखें' जहाँ तक आधार-शिला का सम्बन्ध है, 'गिरती-दीवारें' और 'गर्म राख' से भिन्न नहीं। वही निम्न-मध्यवर्ग 'का चरित्र-चित्रण, जो अश्क ने अपने बृहत् उपन्यासों में किया है, 'बड़ी-बड़ी आँखें' में भी मिलता है। अंत केवल शैली और कला में है। श्रीसुमित्रानन्दन पन्त ने इसे गीति-उपन्यास कहा है। गीति-तत्व इसमें न हो, यह बात नहीं। पंजाब के देहात की सुन्दरता अश्क के कवि ने अपने इस उपन्यास में अवश्य चित्रित की है, पर जिस बात की ओर पंत जी का ध्यान कदाचित् नहीं गया, वह यह है कि 'बड़ी-बड़ी आँखें' में एक सुधारवादी संस्था का जायज़ा लिया गया है और यह बताया गया है कि ऐसी संस्था के ऊपर एक द्रष्टा, एक आदर्श-वादी, एक मानवता-प्रेमी नेता के रहते भी, उस इमारत की नींव भ्रष्टाचार और स्वजन-पालन से गली जा रही है। अश्क ने बड़े सूक्ष्म, लेकिन सुस्पष्ट ढंग से यह बताया है कि किसी व्यक्तिवादी आदर्श और सुधारवादी संस्था के उद्देश्य चाहे जितने महान हों, उसकी नींव खोखली ही होती है। जिन उद्देश्यों को लेकर देवा जी ने 'देवनगर' की स्थापना की है, उन्हीं का गला देवनगर में घोंटा जा रहा है, और यों प्रकट में रोमानी लगने वाला यह उपन्यास, अपनी तमाम गीतिमयता के साथ अश्क के दोनों बृहत् उपन्यासों की तरह ठोस धरती पर खड़ा है। शैली उसकी संस्मरणात्मक और गीतिमय है, जिससे उसमें सच्चे और खरेपन के साथ अजब-सा माधुर्य आ गया है।'

—भैरवप्रसाद गुप्त

'बड़ी-बड़ी आँखें' की कथा जिस क्षेत्र, वातावरण से सम्बन्ध रखती है, वह बाह्य रूप से देखने पर बहुत सरल, स्वच्छ और पवित्र जान पड़ता है। कथा का क्षेत्राधार देवनगर है, जो एक स्वप्नदर्शी व्यक्ति के लौकिक आदर्शवादी दृष्टिकोण का साक्षात् प्रमाण है। उपन्यास की प्रमुख समस्या है— उसी खोखले आदर्शवाद की स्थापना का प्रश्न, जिसके व्यवहारिक पक्ष को वह अपने वैयक्तिक आदर्श की धुन में बिलकुल भुला ही देता है। उपन्यास अपने प्राणवान् पात्रों के कारण ही कथात्मक दृष्टिकोण से भी सफल हुआ है। अधिक स्पष्ट कहें तो अपने पात्रों के कारण ही उपन्यास की कथा-वस्तु में संतुलन बना रह सका है। इसके अधिकांश पात्र काफ़ी रूढ़ अर्थों में आदर्श-वादी होते हुए भी बहुत व्यावहारिक जान पड़ेंगे। हो सकता है कि उनमें उस चेतना की कमी हो, जो किसी सशक्त उपन्यास के सप्राण पात्रों की प्रमुख विशेषता होती है। शिल्प के आकर्षक रूपों का इसमें अवश्य प्रयोग हुआ है। जहाँ तक कलात्मक ढंग से शिल्प की दृष्टि से कोई चमत्कार मिलने का प्रश्न है, वह भले ही इस उपन्यास में न मिले, परन्तु शिल्प-दोष भी इसमें नहीं मिलता—शिल्प से तात्पर्य यह नहीं है कि उपन्यास के कथानक-विस्तार में उसके सभी प्रकारों का आश्रय लेकर उसे कलाबाज़ियाँ खिलायी जायँ। शिल्प की सफलता यह भी हो सकती है कि कथा अपनी स्वाभाविक गति से चले और कलात्मक विकास की दृष्टि से पूर्णता को प्राप्त हो।

डा० प्रतापनारायण टण्डन

पत्थर-अलपत्थर

'गिरती दीवारें' से हिन्दी उपन्यासकारों की प्रथम पंक्ति में अश्क जी को जो विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ, वह उनके नवीनतम (पाँचवें) उपन्यास पत्थर-अलपत्थर से और भी विशिष्ट हो उठा है। इसकी विषय-वस्तु तथा शैली दोनों ही में नयापन है। इसे पढ़कर समाप्त करते ही रवीन्द्रनाथ की एक प्रसिद्ध कविता की दो पंक्तियाँ अनायास ही याद हो आती हैं—

'आमि ये देखेछि प्रतिकारहीन शक्तेर अपराधे
विचारेर वाणी नीरवे निभृते काँदे।'

—मैंने यह देखा है कि प्रतिकारहीन शक्तिमान के अपराध के कारण न्याय की वाणी एकांत-अगोचर में आँसू बहाती रहती है—

मुझे लगा कि कवि गुरु की ये दो पंक्तियाँ अश्क जी के उपन्यास में मूर्तिमान हो उठी हैं—इस उपन्यास की अन्तःसलिला धारा हैं।....

...उपन्यास के अंतिम पन्ने एक ओर हमारे दिल को भारी कर देते हैं और हम सोचने लगते हैं कि इंसान से इंसानियत कितनी दूर

चली गयी है, दूसरी ओर हमारे मन में एक क्षीण आशा भी कुलबुला उठती है कि समाज के—दुनिया के—सारे मनुष्य ऐसे निर्मम नहीं हो गये हैं। उनमें मानवता बाक़ी है, अन्यथा हम जीते कैसे? कम-से-कम इस उपन्यास के लेखक में जो हमदर्दी, जो सहानुभूति है, वह तो भुलायी नहीं जा सकती। उसकी लेखनी में वह मूर्त हो उठी है। अश्क जी की सूक्ष्म दृष्टि ने केवल कश्मीर के सौन्दर्य ही को नहीं देखा, वहाँ के एक परम आस्थावान, सरल, अबोध, ज़ुल्म के शिकार ग़रीब घोड़वान को भी हमारे सामने ला रखा है—ऐसे कि उसका चित्रांकन मन पर एक अमिट रूप छोड़ जाता है।

—गीता बन्द्योपाध्याय